8

डायोजिनीज़

समाज दर्शन
एवं
मानववादी अध्ययन
की
अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका
से
चुने हुए
अनुवाद

डायोजिनीज़

दर्शन तथा मानविकीय अध्ययनों की अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका से प्रस्तुत चयनिका
(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

प्रधान सम्पादक :

दयाकृष्ण

पूर्व-प्रोफ़ेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

सम्पादक मण्डल :

आर. सी. द्विवेदी

प्रोफ़ेसर, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

बी. आर. मेहता

प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

एन. के. सिंघी

प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मुकुन्द लाठ

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

यशदेव शल्य

पूर्व-फैलो; भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली

प्रबन्ध सम्पादक :

के. एल. शर्मा

एसोसियेट प्रोफेसर, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मूल पत्रिका का सम्पादक मण्डल

JEAN d' ORMESSON Chief Editor Diogenes	**(del' ACADE'MIE FRANCAISE)**
M. V. ALPATOV	**(USSR)**
C. CHAGAS	**(BRAZIL)**
E. CONDURACHI	**(RUMANIA)**
B. DADIE	**(IVORY COAST)**
F. GABRIELI	**(ITALY)**
T. KUWABARA	**(JAPAN)**
A. LAROUI	**(MOROCCO)**
J. STAROBINSKI	**(SWITZERLAND)**

डायोजिनीज़

(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

ख्याति प्राप्त अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका Diogenes से दर्शन, इतिहास, समाज-शास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों पर चुने हुए लेखों का हिन्दी में अनुवाद। Diogenes अन्तर्राष्ट्रीय दार्शनिक तथा मानविकी परिषद् की त्रैमासिक पत्रिका है जो यूनेस्को की सहायता से अंग्रेजी, फ्रैंच, जर्मन, स्पेनिश तथा अरबी भाषा में प्रकाशित होती है।

प्रत्येक अंक का मूल्य : पुस्तकालयों के लिये : 10 रु.

विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिये : 5 रु.

पता :

डॉ. के. एल. शर्मा

प्रबन्ध सम्पादक,

C-207, अरविन्द मार्ग, तिलक नगर

जयपुर 302004, (राजस्थान)

डायोजिनीज़

(यूनेस्को की सहायता से प्रकाशित)

हिन्दी डायोजिनीज़ के प्रथम, द्वितीय तृतीय चतुर्थ पंचम षष्टम् एवं सप्तम् अंक में निम्न लेखों का चयन है :

अंक 1. 1. श्रीरमा इन्द्रदेव-प्राचीन भारत और ईरान के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क।
2. लियोनिद एम. बाटकिन—मेक्यावेलि : अनुभव व परिकल्पना
3. जार्ज एफ. डबल्यु. यंग—ऐतिहासिक गत्यात्मकता का सिद्धांत
4. जोइन डी. लुक्का—क्या दर्शन ही दार्शनिकों की कब्र खोदेगा ?
5. ईवेण्डो एगाज़ी—क्या वैज्ञानिक वस्तुनिष्ठता बिना माप के सम्भव है

अंक 2. 1. पियरे मोइनो-सांस्कृतिक सह-अस्तित्व
2. इन्द्रदेव-निरक्षर लोगों का सांस्कृतिक स्तर
3. दयाकृष्ण-विज्ञान, तकनीकी एवं मूल्य
4. सेम्मूअल एन आइसन्सडाट-बेबर के धर्म सम्बन्धी समाजशास्त्रीय अध्ययन की आधुनिक गैर-योरोपीय सभ्यता एवम् समाजों में परिवर्तन की प्रक्रियाओं की व्याख्या हेतु उपादेयता
5. जैकिलीन दि रोमिली-प्राचीन ग्रीस में विनम्रता एवं सभ्यता

विषय–सूची

1. दिक् ग्रौर कामना	जान मेरेजको	1–30
2. साहित्य ग्रौर साहित्यिक ग्रध्ययन : एक परिभापा की खोज	जैकलीन डी रोमीली	31–46
3. समाज का संकट	गिग्रोवन्नी बूसिनो	47–63
4. विकल्पहीन बोध, रचनात्मक शून्यता एवं ग्रन्तिम स्वातंत्र्य पर जे. कृष्णमूर्ति	दिनेश चन्द्र माथुर	64–77
5. विकास की धारणा का विकास	रूफी	78–95

अंक 3. 1. रईमुण्डो पनिक्कर–क्या मानव अधिकारों की अवधारणा का स्रोत पश्चिम है

2. रोमिला थापर—आरम्भिक भारतीय परम्परा में विसम्मति तथा विरोध

3. मेरिया इसौरा डिक्वीरोज–धार्मिक विकास और सर्जन : अफ्रीकी–ब्राजीली धर्म सम्प्रदाय

4. ल्यूबोमिर ड्रमालिव—नैतिक तथा राजनैतिक उत्तरदायित्वों के परिपेक्ष्य में बुद्धिजीवी

अंक 4. 1. वीरेन्द्र शेखावत–सिद्धान्त रचना की दो विधियां : विज्ञानीय ज्ञान की तुलना में दार्शनिक ज्ञान

2. जॉन डब्ल्यू. मरफी–समालोचनात्मक सिद्धान्त धारा तथा सामाजिक संगठन

3. आर. एल. फ्रैंकलिन–संकल्प–स्वातंत्र्य, कारणता तथा विज्ञान

4. कैनेथ जी. बटलर–न्याय सिद्धांत की औचित्यपरक व्यवस्था की रूप रेखा : एक सामान्य संरचनात्मक दृष्टिकोण

अंक 5. 1. वीरेन्द्र शेखावत–विज्ञान दर्शन में कुछ ज्ञान–मीमांसीय प्रचलन

2. लुक रासीन—स्वर्ग, स्वर्णिम युग, मिलीनियम और यूटोपिया–आदर्श समाज के विविध कल्पित स्वरूपों का संक्षिप्त विश्लेषण

3. एरिक जे. हॉब्सबॉम—मार्क्स तथा इतिहास

4. टिलो शाबर्ट—आधुनिकता और इतिहास

5. हेराल्ड आई. ब्राउन—पैराडाइम पैराडाइम एवं सम्बन्धित धारणा

अंक 6 1. मुकुंद लाठ—रूपान्तरण ही सर्जन

2. कृपालसिंह—तकनीकी और आधुनिक उपन्यास : एक ऐतिहासिक परिपेक्ष्य

3. दया कृष्ण—ईश्वर तथा मानव चेतना

4. डोनाल्ड आस्ट्रोव्स्की –ऐतिहासिक सिद्धान्तों का प्ररूप निरूपण

5. श्रीरमा इन्द्रदेव—भारत के पारम्परिक सामाजिक संस्तरण के स्वरूप का विकास : विभिन्न कालों की प्रक्रियाओं का विश्लेषण

अंक 7. 1. दयाकृष्ण –ईश्वर तथा राष्ट्रीय सरकार

2. फ्रान्कॉय शेने कर्म और ज्योतिष : भारतीय मानव शास्त्र का एक अज्ञात पक्ष

3. लांसाना केईटा—समकालीन अफ्रीकी दर्शन : प्रणाली की खोज

4. केनेथ जी बटलर—पैर बांध रखने की प्रथा, शोषण और अनीति : एक गैर मार्क्सवादी अवधारणा

5. दयाकृष्ण—तुलनात्मक दर्शन : यह क्या है और इसे क्या होना चाहिये।

लेखक-परिचय

1. **जान मेरेजको** : जिनेवा विश्वविद्यालय से डी. लिट. । न्यूयॉर्क ग्रौर हावार्ड विश्वविद्यालयों से वैज्ञानिक शोध हेतु सहायता प्राप्त । दर्शन के प्रोफेसर । राजनीति-दर्शन के क्षेत्र में कृतियां : **दे ला मिजिग्ररे एं'टेलैक्तुइल ए मोराल एंरवीस रोमान्द** (ऐरिवैरनैर के साथ) 1981; **ज्यां ग्राक रूसो एला देरीब तोतालितेग्रर** 1984; तथा **क्रोनीक दा रैवौल्यूश्नेयर कॉजरवातयेर** 1985 ।

2. **जैकलीन डी रोमीली** : 1913 में शात्रे में जन्म । ई. एन. एस. के पूर्व छात्र । कॉलेज दे फ्रांस में प्रोफेसर तथा इन्स्टीट्यूट की सदस्या । उनका ग्रध्यापन एवं शोध ग्रीस एवं नैतिक तथा राजनीतिक विचार की संरचना से सम्बन्धित है । **थूसिडैडीज** की अनुवादक एवं सम्पादक (1955 से 1968 तक) । **टाइम इन ग्रीक ट्रेजेडी** (1968); **ला त्राजेदिग्रेक** (1970), **ला लो ग्रा दां ला पांसे ग्रेक, दे ज्योरी जीन ज्यारिस्तोत** (1971), **प्रोब्लेम्रम देला देमोक्राती ग्रेक** (1975); **ला द्ग्रोसेयर दां ला पाँसे ग्रेक** (1975) ।

3. **गिग्रोबन्नी बूसिनो** : 1932 में जन्म । जिनेवा के नागरिक; लाँ सेने विश्वविद्यालय में सामान्य समाजशास्त्र के प्रोफेसर ग्रौर जिनेवा विश्वविद्यालय में ऐतिहासिक समाजशास्त्र के प्रोफेसर । सामाजिक सिद्धान्त, ज्ञानमीमांसा ग्रौर समाजशास्त्रीय विश्लेषण के इतिहास से सम्बन्धित ग्रनेक रचनाओं के लेखक । **ऊवरे कॉम्पलेत देविल फ्रे दो पारेतो** (1963 से ग्रब तक 28 खण्ड प्रकाशित) के सम्पादक । "रिकोंसैत्र इंतरनाश्योले दे जिनीव" के उपाध्यक्ष ।

4. **दिनेशचन्द्र माथुर** : 1918 में जन्म । भारत ग्रौर ग्रमरीका में ग्रध्ययन । राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (भारत) में दर्शनशास्त्र का ग्रध्ययन किया । स्टेट यूनीवर्सिटी न्यूयॉर्क में दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर । ग्रनेक प्रकाशन । विशेषकर नीत्शे ग्रौर जॉन ड्यूई के दर्शन से सम्बन्धित भारतीय ग्रौर ग्रमरीकी पत्रिकाओं में लेख ।

5. **जेक्यूइस रूफी** : जनसंख्या की उत्पत्ति में विशेषज्ञ (रक्त में उपस्थित आनुवंशिक घटकों की परीक्षा के माध्यम से जनसंख्या उत्पत्ति का ग्रध्ययन) । इस नये विज्ञान ने जिसे हैमिटोपॉलॉजी कहा जाता है, जन्म ग्रौर विकास पर नया प्रकाश डाला है जो किसी व्यक्ति से ग्रारम्भ न होकर समग्र जन समूह से सम्बन्धित है । उनकी अधिक ग्रर्वाचीन कृतियां हैं : **ले त्रेयते द्यू बिवां** (फेयर्ड 1982), **ले एपीदेमीज दां लिस्तुग्रार द लोम** (जे. सी. सूर्निया के साथ) फ्लेमारियों 1984; **ला सेयज एला मोर्त**, उदील जाकोव 1986

अनुवादक–परिचय

1. **यशदेव शल्य** : पूर्व-उपनिदेशक राजस्थान हिन्दी ग्रंथ–अकादमी, जयपुर । वर्षों तक **दार्शनिक त्रैमासिक** का सम्पादन किया । आजकल **उन्मीलन** (एक दार्शनिक षाण्मासिक) का सम्पादन कर रहे हैं । दर्शन विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें एवं लेख प्रकाशित । समकालीन भारतीय दार्शनिक जगत के जाने–माने विचारक ।

2 **डा. काशीप्रसाद** : पूर्व प्रोफेसर, इंगलिश विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.) ।

3. **आनंद काश्यप** : कवि और लेखक । प्रमुख रचनाऐं : **सामाजिक परिवर्तन** (स.) **इंगलैण्ड का सामाजिक इतिहास** (अनु.), **अविनाशी के गांव में** (आध्यात्म चिन्तन) विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में कई लेख; प्रमुख साप्ताहिकों (धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, आदि) एवं कविता–संग्रहों में कविताऐं प्रकाशित । समाज शास्त्र के भारतीयकरण तथा रामचरित मानस के समाजशास्त्रीय अध्ययन में संलग्न , **सम्प्रति** राजस्थान विश्वविद्यालय के नृतत्व विभाग में एसोसियेट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष ।

4. लेखक स्वयं ।

5. **डॉ. महेश कुमार तिवारी** : भागलपुर (बिहार) में 1951 में जन्म । राँची वि. वि. से **चार्वाक का नीति दर्शन** विषय पर पीएच. डी. । शोध प्रबन्ध तथा अनेक लेख प्रकाशित । **सम्प्रति** रांची वि. वि. में दर्शन शास्त्र के असिस्टैन्ट प्रोफेसर ।

दिक् और कामना*

जान मेरेजको

पिछली दो शताब्दियों के दर्शन और साहित्य के इतिहास की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि कामना–विषय (उपन्यास में) तथा इन्द्रिय–विषय (ज्ञान–मीमांसा में) से उनके ऐसे आयामों का उद्घाटन करवाया गया है जिन आयामों की क्लासिकीय–युग कल्पना भी नहीं कर सकता था। देकार्त की व्यवस्था में सब कुछ स्पष्ट है, विषय–विस्तार का एक भाग है। किन्तु कांट में वस्तुएं आरम्भ से ही पर्याप्त जटिल दिखायी देती हैं। विषय में एक रहस्यमय तत्-त्व (आत्म लक्षण) है जो हमारे ज्ञान की पहुंच के बाहर है। और साहित्य में कामना–विषय इतना रहस्यमय हो गया मिलता है कि उसका जीव–रूप, उसका प्राणिभाव, लुप्त हो गया दिखाई देता है। क्योंकि, इरिक हैल्लर के शब्दों में, "अब रूमानी प्रेमी का अन्वेष्य, उसका काम्य एक वास्तव प्रेमिका नहीं है। अब उसकी कामासक्ति के साथ एक अस्फुट, एक धुंधली किन्तु तब भी उस पर हावी एक दूसरी कामना है—आध्यात्मिक सिद्धि, मुक्ति की कामना।"[1] अब प्रेमी विषय (एक प्राणी) के आलिंगन की कामना नहीं करता, बल्कि उसमें प्रतिबिम्बित एक अदृश्य यथार्थ की आलिंगन के लिए एषणा करता है। कामना अब उतनी विषयों की ओर प्रवृत्त नहीं होती जितनी इन विषयों के परे की ओर प्रवृत्त होती है जहां, इसकी आस्था के अनुसार, इसे मुक्ति–लाभ हो सकेगा।

---

* Jan Marejko : Space and Desire, **Diogenes**, No. 132, Winter 1985, pp. 34–59.

अनुवाद : यशदेव शल्य

(यहां प्रश्न हो सकता है कि) हम कामना-विषय और इन्द्रिय-विषय को एक-साथ क्यों रख रहे हैं ? क्या वह विश्लेषण युक्त कहा जा सकता है जो जैव आकांक्षाओं और ज्ञानात्मक क्षमताओं को पृथक नहीं करता ?

यहां यह याद दिलाना उचित होगा कि ज्ञान को जैव उद्वेलन (इलान-बर्गसाँ), प्रभुत्वाकांक्षा (नीत्शे), अथवा अस्तित्व की अपेक्षाओं (विलियम जेम्स) के प्रकार्य (फंक्शन) के रूप में देखना समकालीन दर्शन के लिए एक साधारणसी बात है। यहां यह कहना भी उपयुक्त होगा कि इस विचार के कुछ ऐसे अत्यन्त अतिशयता पूर्ण रूप भी सामने आये हैं जिन्हें स्वीकार करना कठिन होगा। जिस युग में यांत्रिकी हमारे परिवेश में निरन्तर परिवर्तन घटित कर रही हो उसमें हम अपनी ज्ञान-शक्तियों को जीवन-रक्षा अथवा परिवेश से समायोजन के उपकरणों के रूप में नहीं देख सकते। दूसरी ओर, इसमें भी संदेह के लिए कोई अवकाश नहीं है कि यही विचार सही आधार पर प्रतिष्ठित है। जब ज्ञानात्मक क्षमताएं (कॉग्नीटिव फैकल्टीज़) जैव वासनाओं से आधारभूत रूप में अलग करके देखी जा रही हों, जैसा कि देकार्त में हुआ है, तब हम पाते हैं कि सम्यक् और तटस्थ ज्ञान प्राप्ति के प्रयत्न का उद्देश्य वास्तव में प्रकृति को हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में नियंत्रित करना मात्र होता है।

बाह्य और वास्तव में सबसे पहले हम अपना ध्यान इसी ओर केन्द्रित करेंगे, क्योंकि जैसा कि हम पाते हैं, देकार्त में असीम, अर्थात् बाह्य विश्व व्यवस्था (अकॉस्मिक) **दिक्** ज्ञान-कामना का फल है, जिसका उद्देश्य विश्व (यूनीवर्स) का तटस्थ बोध प्राप्त करना नहीं होकर उस पर आधिपत्य स्थापित करना है। प्रकृति को अपनी अधीनता में लाने, अथवा उस पर आधिपत्य स्थापित करने का विचार देकार्त-दर्शन के आधार में स्पष्टतः देखा जा सकता है।[2] किन्तु आधिपत्य की कामना और एक सम-रूप (होमोजीनियस) तथा असीम (अवैश्व-विश्व-व्यवस्था-बाह्य) दिक् की अवधारणा के बीच क्या सम्बन्ध है, इस पर कोई विचार नहीं हुआ है। हमारी रुचि यहां उसी में है।

दिक् की समरूपता और विषमरूपता

हम समझते हैं कि प्रकृति पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि बाह्य देश में ऐसा कुछ नहीं हो जो हमारी कामना को प्रेरित करे, क्योंकि आधिपत्य के लिए स्वराट्ता (सॉव्रेन्टी) अपेक्षित होती है और स्वराट्ता का उस विषय के प्रति वासनोद्वेलन (इलान) से वैपरीत्य है जो

विषय हमारी आवश्यकता पूर्ति का साधन है । एक स्वराट् (अधिनायक व्यक्ति) अपेक्षाओं से ऊपर होता है और उसमें कोई कामना नहीं होती ।

साधारतः निष्कामता (निरिच्छा) को बौद्ध अथवा स्टोइक वैराग्य के वाचक एक शब्द के रूप में देखा जाता है, किन्तु इसे उस प्रक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है जो व्यक्ति से सम्बद्ध नहीं होकर उसके परिवेश भूत संसार से सम्बद्ध होती है । यदि यह संसार पूर्णतः समरूप बना दिया जाता है तब उसमें एक वस्तु से दूसरी के प्रति अधिक आकर्षण का कोई प्रश्न नहीं रहता । दिक् का समरूपीकरण, जिसका आरंभ सत्रहवीं शताब्दी में हुआ, मूल और औपाधिक गुणों (प्राइमरी एण्ड सेकेण्ड्री क्वालिटीज़) विषयक सिद्धान्त के साथ हुआ । विषय में वह सब कुछ जो उसे काम्य बनाता है [गन्ध, रस, शब्द, सौन्दर्य (रूप)] उसे विषयिमूलक (औपाधिक गुण) कहा गया, विषय-मूलक नहीं, जिसके गुण विस्तार, आकार और घनत्व हैं । तब ऐसे विषयों के प्रति वास्तविक आकर्षण कैसे हो सकता है जिनकी आकर्षकता एक कल्पना-वरण मात्र है, जिस आवरण को हम उसके समरूप और निर्वर्ण घनत्व पर आरोपित करते हैं ।[3]

समरूप संसार (यूनीवर्स) का प्रत्यंकन (रिप्रजे़टेशन) सरलता से करना संभव नहीं हो सका ।जर्नल डि ट्रिवौक्स (Journal de Trivoux) के जनवरी 1979 अंक में इस सिद्धान्त को स्पष्टतः अस्वीकार किया गया है कि "विषय में हमें जो कुछ भी रोचक प्रतीत होता है वह उस पर आरोपित होता है ।"[4] और बर्कले ने मूल और औपाधिक गुणों में किये गए भेद का जो उग्र विरोध किया उसके सम्बन्ध में भी हम जानते ही हैं ।[5] किन्तु जर्नल डि ट्रिवौक्स या बिशप बर्कले का विरोध 17 वीं शताब्दी में आरम्भ हुए विश्व के समरूपी-करण की प्रक्रिया में सफल नहीं हुआ ।

इस प्रक्रिया के साथ अनिवार्यतः एक दूसरी प्रक्रिया भी चली जो संसार को असीम बनाती है, अथवा स्वयं देकार्त द्वारा प्रयुक्त पद का उपयोग करते हुए कहें, वह प्रक्रिया जो संसार की अनियतता के रूप में प्रतिफलित होती है ।[6] संसार को सीमित देखने पर उसके आगे किसी ऐसे अस्तित्व को स्वीकार करना सहज हो जाता है जो हमारे चारों ओर विस्तृत दिक् से गुणात्मक रूप में भिन्न हो । एक सीमित संसार विषम रूप होगा । इस प्रकार दिक् के सम-रूपी करण, और उसे असीम और अनिर्धार्य देखने के बीच एक निकटतम सम्बन्ध दिखाई देता है ।

एक समरूप और असीम दिक् में इच्छा के लिए कोई अवकाश नहीं होता। ऐसे दिक् में विश्व-बाह्यता (अकॉस्मिज़्म) एक ऐसी वस्तु स्थिति को समाप्त कर देती है जो मनुष्य में वस्तुओं और प्राणियों के प्रति भावनात्मक उन्मुखता होने के लिए आवश्यक है; कामना के अन्त में किसी ऐसी वस्तु से साक्षात्कार का आश्वासन जो इस कामना को सन्तुष्ट करेगा। किन्तु कामना की संभावना के लिए आधार को ही समाप्त करके विश्व का विघटन पूर्ण आधिपत्य के लिए आश्वासन प्रस्तुत करता है।

यहां हम **दिक्** की प्रकृति (समरूप या विषमरूप) तथा कामना के दमन अथवा संवर्धन के बीच सीधा सम्बन्ध होते देखते हैं।

अब हम इस सम्बन्ध पर अधिक निकट से दृष्टिपात करेंगे।

चिन्तन या नियन्त्रण ?

देकार्तीय विज्ञान का एक मुख्य लक्षण यह है कि इसकी मान्यता के अनुसार हम प्रकृति का विषयनिष्ठ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह ज्ञान एक बार उपलब्ध हो जाने पर यह प्रकृति पर आधिपत्य और नियंत्रण स्थापित करने में इस प्रकार प्रयुक्त किया जा सकता है कि हम बिना किसी कठिनाई के पृथ्वी की संपदाओं का उपभोग कर सकते हैं। इस ज्ञान का उद्देश्य एक उन्मोचक उपभोग उपलब्ध कराना है, जो उपभोग की प्रकृति के पूर्ण नियंत्रण का एक स्वाभाविक फल होता है। यह स्पष्ट है कि उपभोग के द्वारा तृप्त कामना या तो चुक जाती है अथवा विलीन हो जाती है।

हमने देखा कि देकार्तीय भौतिकी का समरूप तथा असीम दिक् वस्तुओं और प्राणियों पर निर्बाध नियंत्रण प्राप्त करने के लिए कामना की संभावना समाप्त कर देता है। अब हम पाते हैं कि यह नियंत्रण निर्बाध उपभोग का सहगामी होता है। देकार्तीय मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण अपने शरीर के द्वारा स्थापित नहीं करता क्योंकि वह अपने और प्रकृति के बीच सम्बन्ध में कामना की कोई भूमिका नहीं रहने देता। उसके ज्ञान का आधार काल और दिक् का कोई निश्चित बिन्दु नहीं होता, यह ज्ञान विषयनिष्ठ होता है। इस प्रकार यह पारम्परिक विज्ञान से भी जुड़ा प्रतीत होता है, क्योंकि वह भी वासनाओं और इच्छाओं पर नियन्त्रण की अपेक्षा करता है। किन्तु देकार्तीय ज्ञान पारम्परिक ज्ञान से इस कारण भिन्न है कि यह चिन्तनात्मक उल्लास में प्रतिफलित नहीं होता बल्कि देह की मुक्ति में प्रतिफलित होता है। स्वराट् आनन्दोल्लास को क्रियान्वित कर देकार्तीय मानव यह समझता है कि उसने

उन सब सीमाओं का अतिक्रमण कर लिया है जो उसकी देह उस पर आरोपित करती है ।

दार्शनिक परम्परा प्लेटो के समय से ही शरीर पर आधिपत्य तथा उसी अनुपात में मनकी सत्तात्मक स्वतन्त्रता (ओंटोलोजीकल फ्रीडम) के बीच सम्बन्ध देखती आई है । इसके अनुसार, कामनाओं का शमन करके ही हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । किन्तु देकार्त के साथ इस सम्बन्ध ने दूसरा रूप लिया । अब तत्व–ज्ञानात्मक प्रयत्न के द्वारा आत्मा की शरीर से मुक्ति को साध्य के रूप में नहीं देखा गया बल्कि व्यवस्थित ज्ञान के द्वारा देह की देश–काल मूलक सीमओं के अतिक्रमण को साध्य बनाया गया ।

यह ज्ञान हमें ईश्वर–साक्षात्कार अथवा शाश्वत सत्यों के मनन की ओर उन्मुख नहीं करता । इसी प्रकार, समझने को उत्कंठित मन का लक्ष्य अब सिद्धान्त विचार नहीं है बल्कि एक सार्वभौम दृष्टि से प्रकृति को, और स्वयं देह को भी, अपने नियंत्रण में करना है । एक बार यह नियन्त्रण स्थापित हो जाने पर शरीर उन दासताओं से मुक्त हो जाता है जो इसे अवमानित करते हैं । स्वाधीनता अब आत्मा द्वारा आकारों या प्रत्ययों के मनन की साधना का फल नहीं है, अब यह उस ज्ञान की उपलब्धि और उपभोग का परिणाम है जो विषय की ओर दैहिक या आध्यात्मिक इच्छा की तृप्ति के अभिप्राय से प्रेरित नहीं होकर विषय पर आधिपत्य स्थापन के उद्देश्य से प्रेरित है । यह ज्ञान असीम स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला है । आधिपत्य जिस सीमा तक कामना का निषेधक होता है उस सीमा तक देकार्तीय विज्ञान हमारी वासनाओं की वस्तुओं और सत्त्वों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक नहीं होता, बल्कि वह इस वासना को निरस्त ही करता है । इस स्वातंत्र्यप्रद ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अब सबसे अधिक किसी कामना का होना अपेक्षित नहीं रहा । यही कारण है कि अणु–भौतिकी को ही ऐसी योजना के लिए सबसे अधिक प्रयुक्त किया गया जो इस प्रकार के विज्ञान के लिए अपेक्षित ताटस्थ्य से बहुत दूर थी : ऐसी ज्ञान विषयक योजना जो वस्तुओं पर हमारा पूर्ण आधिपत्य स्थापित करती है । आधुनिक विज्ञान **डिस्कोर्स ऑन मैथड** के समय से एक सार्वभौम पिंड (यूनीवर्सल बॉडी) की दृष्टि से किया जाता है—ऐसा पिंड जो जितना "यहां" होता है उतना ही अन्यत्र भी होता है । **जर्नल डि ट्रिवौक्स** के अभिभावकों को जिस बात ने सबसे अधिक विभ्रमित किया वह देकार्त कि यह मान्यता थी कि वह स्वयं अपने देह के अस्तित्व पर भी सन्देह कर सकता है ।[8] उसकी यह मान्यता उसके दार्शनिक सिद्धान्त की आधार शिला है, क्योंकि यह कामना के निरास से प्रतिफलित होने वाले सुखोपभोग

को भी सुरक्षित करता है और प्रकृति के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण को भी संभव बनाता है।

देकार्तीय ज्ञान सिद्धान्ततः जिस बिषयनिष्ठता में निष्पन्न होता है वह उस आध्यात्म तत्त्व [स्पिरिट] का लक्षण नहीं है जो देह की वासनाओं से क्रमशः मुक्त हुआ है, बल्कि उस उपकरण-समवाय पर नियंत्रण स्थापित करना है जिसके अधीन हमारा देह और उसका परिवेश कार्य करते हैं। सब कुछ ऐसे होता है जैसे मानो आत्म तत्त्व की देह के बन्धन से बच निकलने की सामर्थ्य के प्रति गहरे अविश्वास के कारण भौतिक तत्त्व पर नियंत्रण करने के लिए किसी ऐसी विधि का आविष्कार करना हो जिसके द्वारा आत्मा तथा देह की शांति के लिए मनन-निदिध्यासन के प्रयत्नों से बचा जा सका। गणितीय सम्यक्ता तथा व्यवस्थित विषयनिष्ठता स्पष्ट रूप से देह के, तथा दिक् और काल के पूर्वाग्रहों और विशिष्टिताओं (प्रेजुडिसिज एण्ड पर्टिकुलेरिटीज) से गहरे औदासीन्य के द्योतक हैं। किन्तु देकार्त में यह औदासीन्य अनिवार्यतः ऐसे सन्यासभाव से सम्बन्धित नहीं है जिसके अन्त में देह की माँगे बौद्धिक दृष्टि को धुंधलाने लगती हैं। बल्कि यह उस जीव का लक्षण है जिसने केवल मात्र देह और प्रकृति से ही व्यवहार रखने का निश्चय किया है, जिससे कि वह उनकी कार्य विधि को समझकर उन्हें अपने नियंत्रण में कर सके और इस नियंत्रण के द्वारा उनसे मुक्त हो सके।

अविश्ववाद और अधिराट्ता

यदि देकार्तीय प्रकार की वैज्ञानिक परिशुद्धता होने के बजाय प्रकृति पर पूर्ण आधिपत्य के प्रयत्न का और भौतिक तत्व की आगन्तुकताओं से ऊपर उठ पाने में असमर्थता से उत्पन्न आत्मा की गहरी निराशा का संकेत है तो इससे कामना-विषय और ज्ञान-विषय के बीच तुलना का औचित्य ही सिद्ध होता है। क्योंकि देकार्तीय वैज्ञानिक क्रियाकलाप की योजना के मूल में वास्तव में जो प्रेरणा निहित है वह यह कि किसी प्रकार जगत् को जानकर उससे बच निकला जाय। आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान की रूप रचना के आधार में वास्तव में एक मुक्ति-कामना कार्यशील है।

मुक्ति की यह प्रेरणा जगत् को ऐसे रूप में प्रस्तुत करती है जिसके निरास के द्वारा पूर्ण आधिपत्य की स्थापना और परिणामतः पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना संभव है। यहाँ हम इस तथ्य को विशेष रूप से सामने लाना चाहेंगे कि नियंत्रण में सहायक कामना का यह निराकरण ही दिक् को सम-

रूप और असीम आकार में प्रस्तुत करता है। कामना के सत्तागत न्यूनता [ओंटोलोजीकल डेफोशियेंसी] का लक्षण होने के कारण उसका निरास असीम और समरूप दिक् का पर्याय है, ऐसे दिक् का जिसका कोई भाग दूसरे भाग से अधिक आकर्षक नहीं होता, और उसी अनुपात में अविश्ववाद [व्यवस्थित विश्व की संभावना के निषेध का सिद्धान्त] पूर्ण स्वातंत्र्य की सम्भावना प्रस्तुत करता है। इसमें किसी प्रकार के संदेह के लिए अवकाश नहीं है कि इस आशा के कारण ही पश्चिम ने सत्रहवीं शताब्दी से व्यवस्थित विश्व विषयक किसी सिद्धान्त की सभावना के लिए कोई परिस्थिति ही शेष नहीं रहने दी, क्योंकि केवल इसी प्रकार वह विश्व के लिए एक विशाल यांत्रिकीय और नियत्रित व्यवस्था का निर्माण कर सकता था।[9] असीम तथा समरुप दिक् में कामना के निरास की प्रक्रिया के अन्त में असीम स्वातंत्र्य के आविर्भाव का आश्वासन प्रकट होता है।

अरस्तुई भौतिकी के सीमित तथा असमरूप दिक् में ऐसे विज्ञान के विकसित होने के लिए कोई अवकाश नहीं है जो सब प्राकृतिक गतियों के नियंत्रण के द्वारा कामनाओं का निराश कर हमें मुक्त कर देता है। जहां वस्तुएं एक सोपानात्मक विश्व में अपना स्वाभाविक स्थान पाने के लिए उद्यत हों वहाँ प्रकृति पर अधिकार और नियंत्रण की बात अकल्पनीय है। किन्तु गति और स्थिति के प्रति उदासीन वस्तुओं (इर्नशिया का सिद्धान्त) से खचित असीम दिक् में प्रकृति पर नियन्त्रण की एक स्पष्ट और सम्यक् कल्पना संभव नहीं है।

दिक् और कामना के बीच जो घटित होता है क्या सत्रहवीं शताब्दी में उसकी अभिज्ञता दिखाई देती है ? शैक्सपीयर, जोह्नडोन्ने तथा ब्लैसे पास्कल में विश्व की पारंपरिक अवधारणा के एक असीम और समरूप विश्व द्वारा स्थानांतरण से उत्पन्न भयावह स्थिति का बोध स्पष्ट दिखायी देता है।[10] किन्तु इस स्थानांतरण का कामना जो कि संसार से निराशा के कारण उच्छृंखलता और जेनसन वाद के विकल्प के बीच विभक्त हो गई थी, के महत्त्व पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका बोध उतना स्पष्ट नहीं है। जो भी हो, यह केवल 17 वीं शताब्दी में ही हुआ कि वस्तुओं, सत्त्वों और उनके परे के तत्त्वों के सम्बन्ध में मानवीय इच्छाओं की स्पष्ट अभिव्यक्ति एक समस्या बनी। और जिस सीमा तक मनुष्य अपने अतिक्रमण द्वारा विश्व में रहने का अनुभव करता है उसी सीमा तक हमें कामना की संभावना के आधारों का क्रमिक निराश संसार के समरूपीकरण और अन्ततः उसके विलय की ओर अग्रसर करता है।

कामना की क्षीणता तथा जगत् के निरसन की द्विमुखीन क्रिया 17 वीं शताब्दी से अब तक प्रायः निरन्तर अग्रसर रही है और इस प्रक्रिया की अनेक प्रतिक्रियाएं प्रकट हुई हैं। उच्छृंखलता तथा जेनसन वाद के बीच एक आरंभिक विकल्प के अतिरिक्त और भी अनेक दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाये गए। अब यहां हम उन पर विचार करेंगे। 18 वीं शताब्दी में बर्कले की जो प्रतिक्रिया हुई उसका उल्लेख हम पीछे ही कर चुके हैं। अब हम अपने समय के निकटतर कुछ दार्शनिकों पर विचार करेंगे।

ज्ञान और कामना

बीसवीं शताब्दी में इन्द्रिय विषय ने अपनी सम्यक् रूप से परिभाषित सीमाएं खो दीं। विट्गिंस्टाइन से हाइडेगर तक, बीच में सार्त्र और गेब्रियल मार्सल को लेते हुए, कोई भी दार्शनिक 'विषय के सम्मुख स्थित विषयी' इस परंपरागत चित्र को उपयुक्त स्वीकार नहीं करता। हुस्सर्ल ने इस प्ररूप (मॉडल) को यह प्रदर्शित करके पहले ही विस्थापित कर दिया था कि चेतना विषय को अपनी विषय-वृत्ति (इंटेश्नेलिटी) से स्वतन्त्र सत्ता के रूप में नहीं देखती, और यह वृत्ति चेतना को विषय के आगे एक अदृश्य सन्दर्भ में रख देती है।[11] हुस्सर्ल का चेतना की विषय वृत्तिकता को इतना महत्त्व देना इस बात का द्योतक है कि उसके मतानुसार ज्ञान के लिए मन का विषय की ओर प्रवृत्त होना कितना अधिक आवश्यक है। फिनोमिनलॉजी सिद्धान्त के इस प्रवर्तक की बहुत अभिलाषा और आकांक्षा थी कि ऐसे दर्शन की ओर लौटा जाय जो चेतना की इस वृत्ति की संभावनाओं को एक निश्चित आधार दे सके। वस्तु में ऐसा कुछ है जो उसके स्वलक्षण से भिन्न और अतिरिक्त है। यही कारण है कि हम उसकी ओर उन्मुख हो सकते हैं और हमें होना चाहिए : अर्थात् यह कि हम इसे चाहते हैं।[12]

हाइडेगर, सार्त्र और विट्गिंस्टाइन भी, आधार भूत मतभेद के बावजूद, यह मानते हैं कि प्राणियों और वस्तुओं के दृष्टिगम्य होने का सन्दर्भ या परिवेश कम से कम उतना ही महत्त्वपूर्ण और मौलिक होता है जितना उसका व्यष्टित्व, जैसा कि वह हमें एक प्रकार के सहज प्रत्यक्ष द्वारा प्रस्तुत होता है।[13]

इस प्रकार परिस्थिति अथवा सन्दर्भ का प्रत्यय एक साधारण बात हो गई है। परिस्थिति को दिये गए इस महत्त्व में हमारे प्रत्यक्षीकरण को एक ऐसी प्रत्यय-व्यवस्था की वास्तविकता से मंडित करने का प्रयत्न है जिसमें

हमारे पूर्वजों के संहत–विश्व (कॉस्मोस) का एक जगत् (यूनीवर्स) में विस्फोट इस प्रत्यक्षीकरण को किसी एक निश्चित विषय के सम्बन्ध से वंचित कर देता है। आधुनिक दृष्टि जबकि अपना निर्माण संहत–विश्व विषयक दृष्टियों के विलयन पर कर रही थी, साथ ही यह ऐसे प्रति–कीटाणुओं (एंटी-बॉडीज) को भी उत्पन्न कर रही थी जो इस दृष्टि के विलय से उत्पन्न रोग का उपचार करते थे। इसने वस्तुओं और सत्त्वों को पुनः संगति देने के लिए एक प्रसंग, एक वस्तु स्थिति, अथवा एक परिवेश के बीच स्थापित कर दिया। और यह बात इतनी सही है कि आज स्वयं विषय से कहीं अधिक विषय-घटक वह प्रतीत होता है जो वास्तव में विषय नहीं है। वास्तव में एक सीमा तक कुछ भी ऐसा नहीं है जिसका अस्तित्व स्वयं से हो।

आधुनिक भौतिकी में नवीन उद्भावनाओं ने विषय के विलय की प्रक्रिया को और भी तीव्र कर दिया है, क्योंकि अब यह धारणा सदा के लिए छोड़ दी गई है कि परमाणुओं का स्थान–निर्धारण कभी भी संभव हो पायेगा।[14]

सत्त्वों और वस्तुओं का यह विलय, जो कि पहले एक संदर्भ में सम्यक् रूप से परिवेष्टित और स्थानित थे, साहित्य के क्षेत्र में और भी अधिक गहराई से हुआ। आर. एम. एल्बेरिस के अनुसार "आधुनिक साहित्य में कुछ भी ऐसा नहीं है जो साधारण प्रकार का हो, वह चाहे जीवन का अर्थ हो और चाहे पूर्वगत बोध। लेखक तथा पाठक धारणाओं की एक सामान्य भूमि पर एक सर्व साधारण शब्दावली के माध्यम से परस्पर संप्रेषण में भाग नहीं ले पाते।"[15] एक पूर्ण विषय–निष्ठता[16] को आवश्यक मानकर नौविड रोमन जैसी प्रवृत्तियों ने एक सर्व साधारण, सबके सांझे, जगत् को और अधिक क्षीण बना दिया। यह विलयन आगे अनुक्रमशः इस जगत् में अवस्थित विषयों का विलयन घटित करता है। यही कारण है कि उनका सम्यक् वर्णन करने का इतना उदग्र प्रयत्न दिखायी देता है।[17]

अणवैश्व प्रतिस्थानिक (माइक्रोकॉस्मिक सब्स्टिच्यूट्स)

यह अनिवार्य था कि वे स्थितियां, सन्दर्भ तथा अणु–विश्व, जो विशेष रूप से सत्त्वों और विषयों को अर्थ प्रदान करने के प्रयोजन से कल्पित किये गए थे, विश्व के समरूप देश के असीम विस्तार में होने वाले विलय के बाद घटित होते। हम विषय को यथा तथा रूप में नहीं देख सकते।[18] हमारे लिए इसे प्रागनुभविक आकारों के सन्दर्भ में स्थानित करने की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है जितनी कि एक विश्व में स्थानित करने की, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हमें गति देखने के लिए एक गतिहीन पृष्ठभूमि की आवश्यकता

होती है । किन्तु आधुनिक दार्शनिक विश्व के सम्बन्ध में बात करना अधिक पसन्द नहीं करते, जिसका कारण संभवतः उनका आधुनिक भौतिकी की अद्-भुत प्रगति से अभिभूत होना है । विश्व के विलय की चेतना के विषयापेक्षा-त्मक संदर्भ (इंटेंशनल कॉंटेक्स्ट=हुस्सर्ल) से प्रतिपूर्ति करने का, सत्ता के द्वारा (हाइडेगर) अथवा एक ऐतिहासिक-राजनीतिक परिस्थिति (सार्त्र) के द्वारा परिमार्जन करने का प्रयत्न कर लेने के अनन्तर वे आज यह दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि भाषा वह अन्तिम पृष्ठभूमि है जिसके आधार पर हमारा विश्व प्रतिस्थापित किया जा सकता है, जब तक कि वे थॉमस कुह्न का अनुसरण करते हुए निर्देश की अवधारणा का सहारा लेकर यह नहीं कहते कि जगत् का हमारा प्रत्यक्षीकरण अस्पष्ट स्फुटीकरणों (ऑब्स्क्योर क्रिस्टलाइजेशंस्) अथवा अचेतन पूर्वाग्रहों पर निर्भर करता है । इसका परिणाम यह है कि आधुनिक मनुष्य को ऐसा लगता है कि वह जो देखता या कहता है वह किसी वस्तु से सम्बन्धित नहीं होता । जबकि पारम्परिक विश्व एक सामान्य पृष्ठ-भूमि प्रदान करता था उसका स्थान अब सन्दर्भों, स्थितियों या अन्य अणु-विश्वों ने लिया है ।

जिस दृष्टिकोण से विषय सृष्ट और सीमित विश्व में आरेखित के रूप में देखे जाते थे, वह अब छोड़ दिया गया है । बीसवीं शताब्दी के भौतिक वैज्ञानिकों के ऐसे निष्कर्षों के बावजूद कि परमाणुओं के स्वरूप-ज्ञान का अब वह अर्थ नहीं रहा जो इसे परंपरागत वैज्ञानिकों द्वारा दिया जाता था, आज यह धारणा प्रचलित है कि विश्व के असीम और असन्तुष्ट होने से यह ज्ञान विषयक एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर परस्पर पूर्णतः पृथक् विषयों का अवधारण संभव है । ये विषय किसी भी विश्व-व्यवस्था से पृथक् ज्यामितिक प्रतिरूपों, यांत्रिक व्यवस्थाओं, अथवा विभिन्न कलन-गणि-तीय रूपों (एल्गोरिथ्म्स) में प्रत्यंकित किये जा सकते हैं । किन्तु मानवीय बुद्धि द्वारा कल्पित संस्थान में विषयों का यह पुनरंकन विषय-ग्राहिका चेतना की सापेक्षता में विषय के बाह्य स्वरूप को विलीन कर देता है । यद्यपि यह सही है कि विषय सम्बन्धों के सन्दर्भ के बिना अवगत नहीं हो सकता, किन्तु यह संस्थान भी, जो कि पूर्णतः मानवीय बुद्धि की उपज है, इसके लिए इतना अनिवार्य है कि इसके बिना यह विखंडित ही हो जायेगा । किन्तु जो विषय शुद्ध रूप से मानवीय बुद्धि द्वारा कल्पित सन्दर्भ पर ही आधारित है वह बाह्यतः प्रदत्त वस्तु के रूप में किसी भी प्रकार गृहीत नहीं हो सकता । इस दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक मनुष्य किसी भी प्रकार से आत्म प्रवासित है । इसके विपरीत, वह जिस बात से आक्रांत है वह यह

कि वह अपने ही द्वारा सृष्ट जगत् में रहता है और इस कारण वह उसके लिए पराया नहीं है।

इस दोष के निवारण के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक होगा कि जगत् सृष्ट है, अर्थात् यह एक ऐसा बिषय–समग्र है जिसके घटक किसी मानवेतर आत्मा द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं।[17] किन्तु आधुनिक मनुष्य इस प्रकार की बात स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करके उसे उस शक्ति से वंचित होना होगा, जिसके द्वारा वह इस जगत् का नियंत्रण कर सकता है, और इसके अतिरिक्त, उसे उस अर्थ के आक्षेप से विरत होना होगा जो अर्थ उसने इस जगत् को दिया है।

हुस्सर्ल ने जगत् को रचित मानने की दूरी तक जाये बिना जगत् की बाह्यता के पुनरनुसन्धान का प्रयत्न किया, क्योंकि उसने कभी ऐसी विधि में विश्वास नहीं छोड़ा जो हमारे लिए मानव–चेतना की रचनात्मकता से स्वतंत्र पृष्ठभूमि पर उभरती और प्रस्तुत होती हुई वस्तुओं को देखना संभव करेगी। जो वस्तुएं अपने को प्रस्तुत करती हैं प्रदान करती हैं, वे स्पष्टतः चेतना की उपज नहीं हो सकती हैं।

ब्रह्मांड का प्रतिमापरक प्रत्यंकन

ब्रह्मांड केवल एक सरल मंच–सज्जा नहीं है, जैसाकि कांट के ग्रंथ **क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न** में प्रतिपादित विख्यात विरोधाभासों (एंटीनोमीज़) में उसकी मान्यता प्रतीत होती है। ब्रह्मांड का प्रत्यंकन इसलिए संभव नहीं है क्योंकि सत् का कोई भी यांत्रिक प्रत्यंकन एक असीम और समरूप दिक् को पूर्वकल्पित करता है, और ऐसा दिक् एक व्यवस्थित विश्व में संकलनीय नहीं हो सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि विश्व–व्यवस्था–विज्ञान संभव नहीं है। यदि हम 'विश्व विज्ञान' शब्द पर विचार करें तो पायेंगे कि इसका अर्थ है "विश्व विषयक शब्द" किन्तु शब्द प्रत्यंकनात्मक (प्रतिरूपात्मक) नहीं होते। प्रत्यंकन विषय के प्रतिबिंब जैसा होता है, जबकि सत्त्वों अथवा वस्तुओं के वाचक शब्द उन्हें वाक् के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करते हैं। क्योंकि शब्द उनका प्रत्यंकन नहीं करता इसलिए वाक् सत्त्वों और वस्तुओं को अपने यथा तथा रूप से न्यून या अधिक होने का अवकाश देता है।[21] जैक्विस डेरिडा की पदावली का उपयोग करते हुए कहा जा सकता है कि वाक् (शब्द) एक 'भिन्नता' की व्यंजक होती है, अर्थात् यह सत्ता में एक संभावित तात्त्विक अन्तराल का आक्षेप करती है, जिसके माध्यम में से हमें लगता है कि वस्तुएं सदैव वैसी ही

नहीं रही हैं जैसी वे अब हैं, और न वे सदैव वैसी रहेंगी जैसी वे इस समय हैं। दूसरे शब्दों में, वाक् और विशेषतः विश्व विषयक वाक्, काल को भी सम्मिलित करती है।

आधुनिक युग के आरंभ में, प्राकृतिक दर्शन (भौतिकी) से काल बहिष्कृत था। जगत् विषयक शाब्दिक निरूपण का स्थान उसके प्रत्यंकन ने ले लिया, और अब स्वयं शब्द भी प्रत्यंकन का साधन, अथवा स्पष्ट और विविक्त प्रत्यक्ष ही रह गया है।[22] शब्द से दृष्टि के इस स्थानान्तरण का विश्लेषण करते हुए वाल्टर ओंग कहता है कि "सत्रहवीं शताब्दी से ज्ञान की अवधारणा पूर्णतः दृष्टि की उपमा पर ही की गई थी।"[23]

प्रत्यंकन के प्रभुत्व की स्थापना में अविश्वासवाद के बीज निहित थे। प्लेटोई पुनर्जागरण तथा अरस्तुई-थॉमसीय परम्परा के ह्रास ने इस विचार को मान्यता दी कि संसार को ज्यामिति और गणित के माध्यम से समझा जा सकता है, शब्द के माध्यम से नहीं। किन्तु गणित और ज्यामिति के द्वारा हम प्लेटो के विश्वकर्मा रूप ईश्वर के अधिक निकट पहुँच जाते हैं बजाय सन्त जोह्न के ईश्वर के, जिस के शब्द से जगत् की सृष्टि हुई।[24]

प्रत्यंकनात्मक विद्या उस विश्व की ओर निर्देश करने के द्वारा जिसकी संरचना गणितीय-ज्यामितिक है और जो असीम दिक् में विस्तृत है, इस अवधारणा को बहिष्कृत कर देती है कि हमारे प्रत्यक्ष के और हमारी कामना के विषयों में एक ऐसा अभौतिक या अप्राकृतिक अदृश्य तत्त्व हो सकता है जिसके माध्यम से ये विषय एक वैश्व समग्रता में आकलित हो सकते हैं। यदि एक प्रत्यंकन वास्तव में ही उन वस्तुओं का प्रतिबिंब हो जो अपने पिंड (मास) को अचलता में अनियत काल के लिए अवस्थित रहते हैं, तब जगत् का प्रत्यंकन इस पूर्व मान्यता पर प्रतिष्ठित है कि इस जगत् में विद्यमान सब कुछ एक अचल पिंडत्व में अपचेय है। किन्तु शब्द के ऊपर प्रतिरूप की विजय को प्लेटोई नवीकरण या गणित का अभ्युदय केवल अपने आप से सिद्ध नहीं कर पाये। इसके विपरीत, स्थिति यह है कि यह नवीनीकरण और यह अभ्युदय दिक् और कामना के बीच एक नवीन सम्बन्ध के परिणाम हैं।

यहां हम अपने को एक आधारभूत परिवर्तन के सम्मुख पाते हैं, जो परिवर्तन माइकल फौकॉल्ट के अनुसार, सत्रहवीं शताब्दी से यूरोपीय संस्कृति को परिभाषित करता है। (इसमें) दृश्य रूपता उन्हें हमारे सम्मुख उद्घाटित करती है। (जबकि उनसे सम्बन्धित चर्चा यह नहीं करती) दूसरी ओर,

वस्तुओं को इस प्रकार देखना उन्हें इस वैश्वलय से पृथक् करना है जिस के द्वारा वे एक सापेक्ष समग्रता में अनुस्यूत थे। जैसे ही यह निष्कासन पूर्ण हो जाता है वस्तुएं अपने गणितीय-ज्यामितिक तत्त्व से भिन्न अन्य किसी अस्तित्व में भाग लेना छोड़ देती हैं, वे अपने में आकुंचित हो जाती हैं और इस प्रकार नियम्य हो जाती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि विषयों का यह आकुंचन अरस्तु के बन्द-आकुंचित देकार्त के समरूप और असीम दिक् में विलय का सहगामी बनता है, और यह दिक् विषयों को विश्व में समायोजित करने के बजाय उन्हें एक अनियत समस्थापन के द्वारा परस्पर से पृथक करता है।

तब से शब्द प्रायः व्यर्थ हो गया है। जब यह देकार्तीय दिक् में व्यवस्थापित और इस (दिक्) से स्पष्टतः परिलिखित वस्तुओं का अभिधान करता है तब यह उन्हें वैश्व अथवा अतिप्राकृतिक व्यवस्था में पुनः समायोजित नहीं करता। शब्द अब सार्वभौम उत्पादक शक्ति खोकर प्रत्येक प्रदत्त अथवा उद्घाटित वैश्व व्यवस्था के विघटन का उपकरण बनता है, ऐसा विघटन जिसे हम विश्व का प्रतिमात्मक पुर्ननिर्माण कहेंगे।

इन उल्लेखनीय अपवादों के बावजूद आधुनिक दर्शन अपने देकार्तीय चरण से प्रत्यक्षवादी और विश्लेषणवादी चरण तक सत्ता के प्रतिमात्मक पुर्ननिर्माण की परियोजना के विचार से सम्मोहित रहा है।[24] यह सम्मोहन इतना गहरा था कि इसका उस समय भी पोषण किया जा रहा था जिस समय आधुनिक भौतिकी में नवीन प्रगतियां इस परियोजना के ज्ञानमीमांसीय आधारों पर प्रश्नचिह्न लगा रही थीं।

कम से कम आज यह परियोजना व्यर्थ सिद्ध होने लगी है। जब हम रिचर्ड रोर्टी के समान विश्लेषणात्मक दार्शनिक को यह कहते सुनते हैं कि हमें मन को दर्पण के रूपक के अनुसार देखना छोड़ देना चाहिए और दर्शन के वार्तालाप[26] के रूप में देखना चाहिए, तब हम पाते हैं कि भौतिकी के परमाणुओं की स्थानापन्न औपचारिक प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर विश्व-रचना की परियोजना अब पहले से भी अधिक असाध्य प्रतीत होती है।[27]

हाइडेगरीय अवरोध

जैसाकि हाइडेगर ने ठीक ही समझा था, जगत् अपने होने के लिए, अपने सद्भाव के लिए, काल का अपेक्षी है, और काल (सत्ता का) ऐसा आयाम है जिसका मूर्त्त प्रत्यंकन किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। यह

देखना महत्त्वपूर्ण है कि सीइन उंद ज़ाइत (सत् और काल) के लेखक के लिए संसार का अस्तित्व केवल दा ज़ाइन के, मनुष्य की कालिकता के, माध्यम से ही संभव है, उसके अनुसार इसे स्वलक्षण वस्तुओं की (परस्पर बाह्य) संस्थिति के रूप में नहीं समझा जा सकता। और भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि हाइडेगर कविता की ओर बहुत गहराई से उन्मुख हुआ था। काव्यात्मक विषय अपने पर आकुंचित नहीं होता। किन्तु जैसे ही हम ऐसे विषय से व्यवहार करते हैं जो अपने पर आकुंचित नहीं है, हम प्राचीन भौतिकी के असीम दिक् को पीछे छोड़ कर व्यवस्थात्मक विश्व में प्रविष्ट हो जाते हैं। काव्यात्मक विषय कवि के विश्व के हजारों अदृश्य सूत्रों से सूचित होता है। ये सूत्र जितने ही कसावपूर्ण होते हैं उतना ही काव्यात्मक विषय उस प्राकृतिक अस्तित्व से बाहर हो जाता है जो एक सम्बन्धरहित संस्थिति के रूप में अवधार्य है। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक अस्तित्व जितना ही अधिक आकर्षण–रहित होता है कविता उतनी ही अविश्वासभाव (अकॉस्मिज़्म= अन्तः सम्बन्धों से रहित जगत्) की संस्थितिपरकता से मुक्ति के उपाय के रूप में प्रस्तुत होती है।[29]

किन्तु यहां पर प्रश्न किया जा सकता है कि हमें दृश्य जगत् में अदृश्य तत्त्व के पुनराधान के लिए तथा एक नयी विश्वमीमांसा की प्रतिष्ठा के लिए मानवीय कालिकता के मार्ग से आगे बढ़ना चाहिए या कि कवि के शब्द के माध्यम से?[30] केवल मनुष्य ही ऐसा नहीं है जो भव्यता की स्थिति में होने के कारण अदृश्य और दृश्य को संयुक्त करता है। मनुष्य के साथ या उसके बिना कुछ भी ऐसा नहीं है जो अपने से अभिन्न हो। हाइडेगरीय पदावली में कहें तो कह सकते हैं कि कुछ भी स्वलक्षण सत् नहीं है। एक बार पुनः हम समकालीन भौतिकी की नवीन उद्भावनाओं पर विचार करेंगे, ऐसी उद्–भावनाएं जो विश्व की आधारभूत ईंटों को देख पाने को असंभव सिद्ध करती हैं। केवल ऐसी ईंटें ही हाइडेगर द्वारा दी गई स्वलक्षण वस्तु की परिभाषा के अनुरूप हैं। यदि ऐसी ईंटों का अस्तित्व नहीं हो तो संपूर्ण आधुनिक भौतिकी का संशोधन आवश्यक होगा, क्योंकि यह भौतिकी देकार्त की तत्त्व-मीमांसा के प्रभाव में ऐसी ईंटों की विद्यमानता स्वीकार करती है।

देकार्तीय ब्रह्मांड की अकालिकता

जैसाकि हमने देखा, ब्रह्मांड का मूर्ति–रूप में प्रस्तुतीकरण केवल ऐसे घटकों को ही स्वीकार करता है जो पूर्णतः अपने से अभिन्न हैं। यदि हम मानें कि यह प्रस्तुतीकरण यथार्थ को व्यक्त करता है, तो इसमें काल के लिए कोई

स्थान नहीं रहता क्योंकि काल स्वयं वस्तुओं के भीतर ही एक सत्तामूलक अन्तराय उत्पन्न कर देता है । कालात्मक अन्तराय के अन्त में विषय वही नहीं रहता जो वह उस अंतराय के आरम्भ में होता है । माइकेल अबेचर के अनुसार "वस्तुएं हमें यह आभास दे सकती हैं कि वे अपने से अभिन्न रहती हैं–विषय निष्ठ रूप में यह स्थूलत: सही भी है, किन्तु जब हम उनसे एक बार आंखें हटा कर क्षण भर बाद उन्हें पुन: देखते हैं तो वे नयी दिखायी देती हैं, उस नयेपन के साथ जो हमारे भीतर वर्तमान क्षण को अतीत क्षण से पृथक् करता है ।[32] यह वह नवीनता है जिसे विश्व का मूर्त्यात्मक प्रस्तुतीकरण अस्वीकार करता है ।

मानवीय इच्छा के लिए अकालिक ब्रह्मांड में उसी प्रकार कोई अवकाश नहीं है जिस प्रकार उसके लिए एक समरूप और असीम दिक् में नहीं है । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो गुण (समरूपता और असीमता) और देकार्तीय ब्रह्मांड की अकालिकता तत्त्वत: एक ही बात है ।

नियंत्रण के लिए उत्कंठा

जैसाकि हम जानते हैं, मानवीय कामना में तृप्ति का असीम अभाव है (जो कि पाशव वासनाओं में नहीं है ।) इसे सच्चे अर्थों में कुछ भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता । यदि ऐसी कोई एक "वस्तु" (मनुष्य) है जो प्रकृति में उपलब्ध सब आदान–प्रदानों से असन्तुष्ट रहती है तो इसका कारण यह है कि विश्व एक यांत्रिक अथवा जैव एकक नहीं है । हम यह सहज ही समझ सकते हैं कि क्यों हाइडेगर ने यथार्थ को मूर्त्यात्मक प्रस्तुतीकरण का विरोध मानवीय यथार्थ के साथ आरंभ किया । किन्तु हम यह भी कह सकते हैं कि यद्यपि विश्व एक यांत्रिक और जैव एकक नहीं है तब भी एक प्राकृतिक विश्वमीमांसा अथवा ईश्वर मीमांसा की संभावना का निषेध नहीं किया जा सकता । विश्व में ऐसे एक भी तत्त्व की विद्यमानता जो इसके मूर्त्यात्मक प्रत्यंकन अथवा पुन: रचना में समायोजित नहीं किया जा सकता, हमें पिछले युग से आगे निकल आये प्राकृतिक दर्शन की अवधारणाओं के संशोधन के लिए बाध्य करती है । किन्तु हाइडेगर यह नहीं करता है ।

इस प्रकार केवल आधुनिक भौतिकी में नये अनुसन्धान और विश्लेषणात्मक दर्शन की असफलताएं ही हमें विश्व की अपनी कल्पना को बदलने के लिए बाध्य नहीं करतीं बल्कि इच्छावान् सत्त्व की, जिसे कि यांत्रिकीय अथवा जैविकीय क्रिया–प्रतिक्रियाओं की व्यवस्था में समायोजित नहीं किया जा सकता, उपस्थिति भी इसके लिए बाध्य करती है ।

किन्तु ऐसा क्यों है कि जो निष्कर्ष इतना सहज रूप से हम निकाल सके हैं वह पहले नहीं निकाला गया ? ऐसा क्यों है कि सत्रहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक मानवीय विज्ञानों ने विश्व की ऐसी कल्पना को पुष्ट करके जिसमें एक ओर अपने पर आकुंचित वस्तुएँ हैं और दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति जो काल और इतिहास से बहुत गहराई से रूपांतरित हो सकते हैं, अपने को प्राकृतिक विज्ञानों से इतना आधारभूत रूप में पृथक् कर लिया ? ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि ऐसा द्विभाजन यद्यपि दुःखद है किन्तु यह प्रकृति के नियंत्रण और उस पर आधिपत्य की आशा भी जागृत करता है । विषय, जो कि जैसे वे हैं वैसे हैं–अकालिक विषय––उन्हें हम यथेच्छ या नियुक्त कर सकते हैं, उनका जैसा चाहे उपयोग कर सकते हैं, और उन्हें चाहे जैसी भी व्यवस्था दे सकते हैं, किन्तु तब भी इस बात का कोई खतरा उत्पन्न नहीं होता कि विश्व की व्यवस्था से ये उखड़ जाएंगे । इस बिन्दु पर आकर हमें मनुष्य की कामना के उपर्युक्त विश्लेषण को और आगे बढ़ाना चाहिए ।

असीम में आत्मनिष्कासन

ऐसे विश्व में जिसकी वस्तुएं जैसी हैं वैसी ही रहेंगी, कामना के प्रेरित होने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता । स्वलक्षण वस्तु का यह सरल (निष्काम) उपभोग सहज ही मनुष्य को ऐसी वस्तुओं की व्यवस्था में बन्द कर देगा जो यथावत् बनी रहती है ।

किन्तु मनुष्य की कामनाएं केवल भोजन या मैथुन की आवश्यकताओं तक सीमित नहीं होती । मनुष्य अपने कामना–विषय की ओर उन्मुख होकर उसका उपभोग करते हुए अपने को भी रूपांतरित करना चाहता है, अर्थात् उस अभौतिकता में सह भाग लेना चाहता है जो इन विषयों के माध्यम से प्रस्तुत होती हैं, इस अभौतिकता को चाहे हम आत्मा कहें, आकार कहें, या अर्थ कहें । पॉल रिक्यूर ने इन रूपांतरणों का निरूपण उस कर्म के वर्णन द्वारा किया है जिसके माध्यम से मन सत्ता का अवगमन एक सह-चेतन के रूप में करता है । दूसरे शब्दों में, वस्तुओं की ओर अग्रसर होने के द्वारा हम उनमें उससे अधिक पाते हैं जितना उनमें वास्तव में निहित होता है । यदि विश्व अपने पर आकुंचित वस्तुओं की संस्थिति मात्र हो तो यह असंभव होगा । मनुष्य ऐसे विषयों का अपनी अधिकार–लालसा को सन्तुष्ट करने के लिए उपयोग ही कर सकता है । समकालीन चिन्तन में यह एक सर्वविदित बात है कि आत्मकुंचित वस्तुओं का होना विश्व यांत्रिकीय और तर्कात्मक जगत् की संभावनाओं के लिए अनिवार्य है । उसमें कुछ ऐसा नहीं है जो

मनुष्य को उसके प्रति उद्घाटित करे जो उससे परे स्थित है। इसमें संदेह के लिए कोई अवकाश नहीं है कि अधिकार के प्यासे व्यक्तिवाद के अतिचार और विकृतियां ऐसे विश्व के प्रतिरूपांकन से उद्भूत होती हैं जिसमें वस्तुएं और सत्त्व हमें केवल अपने में ही परिभाष्य बनाते हैं, क्योंकि वे ऐसे विश्व के भाग हैं जो संभवतः असीम तो हैं किन्तु निश्चय ही जो आत्मातिक्रामी नहीं है। इस दृष्टि से हम एलेग्जें डर कोयरे के इस विख्यात कथन को स्वीकार कर सकते हैं जिसके अनुसार आधुनिक युग एक सीमित विश्व से एक असीम ब्रह्मांड में संक्रमण है। हमारा संसार यद्यपि वस्तुतः असीम है, अथवा कम से कम यह वैसा कहा गया है, किन्तु इस दृष्टि से यह भयानक रूप में सीमित है कि मानवीय अस्तित्व इसमें कुछ भी ऐसा नहीं पाता जिससे पोषण पाकर यह इसका अतिक्रमण कर सके। दृश्य में अदृश्य को नहीं देख पाकर हम यह नहीं समझ पाते कि हम प्रकृति का उपयोग करने के अतिरिक्त और क्या कर सकते हैं ? वस्तुओं और सत्त्वों से साम्मुख्य का अर्थ अब उनके साथ सहभाव समागम नहीं है। जैसाकि नीत्शे ने महसूस किया था, और ठीक ही महसूस किया था, अपने पर आकुंचित वस्तुओं से विश्व का पुनर्निर्माण अंततः एक पिंजरे का निर्माण ही सिद्ध होता है। किन्तु यह निश्चित है कि वह अब सत्त्वों और वस्तुओं के रहस्य के प्रति उद्बुद्ध नहीं हो सकता जिससे कि वह आमूल रूपान्तरित हो सके। इसके बाद से उसकी इच्छा एक मर्मान्तक दुःख में परिवर्तित हो जाती है।

पूर्ण काराबद्धता

कामना की यह यंत्रणा ही अंशतः यह स्पष्ट करती है कि क्यों रूमानी साहित्य में, अर्थात् उस साहित्य में जो उस काल का था जिस में विश्व का मूल्यात्मिक प्रत्यंकन एक मानक था, स्त्री सही अर्थों में रहस्यमयता के चिलमन में छिपती है, जैसाकि इस लेख के आरंभ में एरि हैल्लर के उद्धरण से हमने पाया था। इस साहित्य ने, अपने पर आकुंचित विश्व के साम्मुख्य में स्त्री से, जो कि कामना का चरम विषय है, उससे असीमतः अधिक की मांग की जितना वह दे सकती थी। उसे इसके माध्यम से ही यह आशा थी कि वह वस्तुओं की निर्वण सतह को भेद कर काल तथा आधार भूत रूपांतरणों को पुनः खोज सकेगा।

उस विश्व में जो अपने से इतर के प्रति नहीं खुला है, उत्पादन का अतिक्रमण संभव नहीं है। किसी भी अवस्था में ऐसा जगत् असृष्ट होगा, क्योंकि यदि यह सृष्ट होता तो सब सृष्टियों के अनुरूप इसके उपादान के तत्त्व में ही

इसके सृष्टा की अपेक्षाएं, अभिप्राय, प्रेम, बुद्धिमता भी अनुस्यूत होते। अपने से अभिन्न वस्तुओं का विश्व कामनायुक्त मनुष्य को अपने से इतर के साथ साहचर्य–सुख, अथवा कम से कम साम्मुख्य का अवसर नहीं दे सकता। मूर्त्त्यात्मिक प्रत्यंकन के विश्व में मनुष्य अपने को एक सत्तामूलक धारा में बन्द पाता है, अथवा जान् स्टोरोबिस्की के शब्दों में, "वह दृश्य वस्तुओं के मध्य से होकर निकलता है जिससे वह अपने को रिक्त दिक् में खो दे।"[34] उसमें गति और इच्छा के लिए कोई अवकाश नहीं है। अवश्य इस दिक् में कोई ठोस दीवारें नहीं हैं जो जीवन की क्रियाओं को अवरुद्ध करें; किन्तु सन्तानोत्पादन, पोषण और आत्माच्छादन, अपने परिवेश में परिवर्तन, नगर–निर्माण, कलाकृतियों का सर्जन, विचार विनिमय आदि की क्रियाएं भी व्यक्ति को अपने से बाहर किसी के सम्पर्क में नहीं लातीं। आधुनिक साहित्य, जिसका आरंभ रूसो से होता है, ऐसे "नायकों" के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है जो अपने से आगे नहीं जा सकते, यद्यपि वे विभिन्न क्रियाओं में व्यस्त रहते हैं।[36] वे महसूस करते हैं कि वे एक ऐसी धारा में बन्द हैं जिसकी सीखचों को वे नहीं देख सकते हैं तब भी, पोलीस ने कभी उनकी जांच नहीं की, उन्होंने कोई अपराध भी नहीं किया।

बन्द विश्व (वर्ल्ड) तथा असीम जगत् (यूनीवर्स)

केवल ऐसा सत्त्व ही विश्व (कोस्मोस) का निवासी हो सकता है जो अपने को आकर्षित करने वाले विषय की ओर अग्रसर हो सकता है। विषय के लिए आकर्षक होना तभी संभव है यदि वह कुछ सीमा तक उस शुद्ध दैशिकता का अतिक्रमण कर सकता है जो देश (दिक्) वस्तुओं की (मात्र बाह्यात्मक) संस्थिति का आयाम है। जब एक विषय दूसरे से केवल स्थान–भेद के आधार पर भिन्न होता है तब वह अपने वैशिष्ट्य में काम्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें अपना विशिष्ट कुछ होता ही नहीं जिसके आधार पर उसे अपने चारों ओर विद्यमान वस्तुओं से भिन्न किया जा सके, जब तक कि स्वयं दिक् ही स्वरूपतः उद्भिन्न नहीं हो। किन्तु अरस्तु के विश्व की देशात्मक भिन्नताएं (विषमताएं) भी इसलिए अर्थ रखती हैं क्योंकि इसके घटक विषयों में ही एक अभौतिक तत्त्व (एक इच्छा, एक प्रवृत्ति)[37] रहता है। जो तत्त्व इन विषयों को इन भिन्नताओं के आधार पर व्यवस्थित करता है जिन्हें कि अरस्तु उनके स्वाभाविक स्थान कहता है। इस प्रकार किसी विषय की स्थिति और गत्यात्मकता तथा स्थित्यात्मकता हमारे सम्मुख इसके तत्त्व को ही उद्घाटित कर देते हैं। अरस्तुई भौतिकी के अनुसार, यदि पत्थर गिरता है तो इसका अर्थ है कि वह अपनी प्रकृति से नियत अपना स्थान खोज रहा

है : विश्व का केन्द्र स्थल । प्राकृतिक स्थितियों का समग्र एक विषम दिक् का निर्माण करता है । प्रत्येक विषय अपने स्वाभाविक स्थान की ओर प्रवृत्त होता है, और जैसे ही वह उस स्थान पर पहुँच जाता है वह स्थिर हो जाता है । यह दिक् संरचित (स्ट्रक्चर्ड) है, वैश्व (विश्व–व्यवस्थगत) है और सत्त्वों तथा वस्तुओं की सब कामनाओं अथवा प्रवृत्तियों से इसकी अनुरूपता है ।[38] और सत्त्वों तथा वस्तुओं का घटक केवल दिक् ही नहीं है, उनका घटक एक अभौतिक तत्त्व भी है जो उन्हें काम्य बनाता है अथवा जो उन्हें अपने काम्य लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए प्रेरित करता है ।

जो विषय अपने में दिक् से अधिक धारण करते हैं उनमें एक स्वायत्तता रहती है जो उनके लिए अपने स्वभाव से नियत स्थान की ओर अग्रसर होना संभव करती है । विषम दिक् इस प्रकार दृश्य और अदृश्य के बीच मौलिक भेद नहीं करता, क्योंकि वे अदृश्य शक्तियां जो इन वस्तुओं को परिचालित करती हैं वे स्वयं इन विषयों के भीतर ही जन्म लेती हैं । इस प्रकार यह असंभव है कि इन विषयों द्वारा अध्युषित आयतन में और कुछ भी निहित नहीं है । इस आयतन में वह तत्त्व भी रहता है जो उन्हें परिचालित या अवरुद्ध करता है । दिक् की समरूपता या विषमरूपता, जिसमें कि ये वस्तुएं गतिमान् होती हैं, उस तत्त्व की विद्यमानता या अविद्यमानता से पूर्णतः अनुरूप होती हैं जो उनमें विद्यमान बिस्तार द्रव्य से भिन्न होता है । जैसे विषम दिक् विश्व (व्यवस्थामय और परिसीमित संसार) का घटक है जबकि समरूप दिक् असीम है, उसी प्रकार हम कह सकते हैं कि सीमित विश्व और असीम संसार वस्तुओं में विस्तार रहित द्रव्य की क्रमशः विद्यमानता और अविद्यमानता के द्योतक हैं । अथवा यह भी कहा जा सकता है कि दृश्य और अदृश्य के बीच सम्बन्ध के हम जो दृष्टिकोण अपनाते हैं वह जगत् की सीमितता और असीमितता के प्रति हमारे दृष्टिकोण को निर्धारित करता है । यदि, जैसाकि देकार्त का मत था, केवल दिक् ही वस्तुओं का घटक हो तो हमारी कामनाएं आत्म–अभिन्न वस्तु–पिंडों से एक बार उछल दुबारा सत्तामूलक विविधताओं के उस तन्तुवाय का स्पर्श नहीं कर पायेंगी जिनके माध्यम से हम अपनी आंखों के सामने जगत् का साक्षात्कार करते हैं । और इस प्रकार विश्व की अगाध संरचना (स्ट्रक्चर) विषयों के उस स्वभाव पर निर्भर करती है जो हमारी कामनाओं के अनुरूप है । ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व तब तक संभव नहीं है जब तक दिक् में मात्र दिक् से अधिक कुछ विद्यमान नहीं हो ।

क्या हमारे जगत् में स्वलक्षण वस्तुएं हैं, अर्थात् ऐसे विषय जो अपने पर आकुंचित हों ? क्या केवल मनुष्य ही ऐसा सत्त्व है जो (परस्पर बहिकार वस्तओं के) संस्थानात्मक लोक से बच पाता हो ?

कुछ भी दूसरा ऐसा नहीं है जिसके सम्बन्ध में हम इससे कम निश्चित हैं।[39] हम पहले ही यह कह चुके हैं कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने अजैव पदार्थ को (जो कि अपने द्वारा अध्युषित दिक् से पूर्णतः परिसीमित होने वाली वस्तुओं में आदर्श है) अन्तर्गत संरचना की जितनी ही अधिक जाँच की उतना ही कम वे मूल अणुओं का स्थान-निर्धारण करने में असफल रहे हैं। इस विचार को यदि और आगे तक बढ़ाएं तो कहा जा सकता है कि कुछ भी प्रत्यंकित करना संभव नहीं है। कोई भी प्रतिमा यथार्थ के अनुरूप नहीं हो सकती।

किन्तु हम ऐसी वस्तु की कल्पना कर सकते हैं जो अपने द्वारा अध्युषित दिक् में पूर्णतः सन्निहित हो। ऐसा तत्त्व पूर्णतः निश्चल, निर्जीव होगा। इसका अपने से बाहर किसी से आदान-प्रदान संभव नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, जितनी ही कम कोई वस्तु अपने से अध्युषित दिक् से परिसीमित होगी उतनी ही अधिक वह सजीव होगी। एक पौधे और उसके परिवेश के बीच जो जैव-रासायनिक आदान-प्रदान होते हैं वे एक पिंड की अपने से अध्युषित दिक् से बाहर आत्म विस्तार की सामर्थ्य को प्रकट करते हैं उद्वेलित होता हुआ जीवन तुरन्त ही संस्थिति परक लोक को लांघ जाता है (जहां तक इस लोक का वास्तव में अस्तित्व है) किन्तु ऐसा वह पूर्ण रूप से नहीं कर पाता। और आगे जाकर हम ऐसे स्वराट् जीवन की कल्पना कर सकते हैं जो इस लोक से परे हो। स्वराट् अथवा शाश्वत जीवन, स्वयं स्थानित होने से च्युत हुए बिना भी देकार्तीय भौतिकी का दिक् नहीं होगा।[40] संस्थितता के लोक की धारा से निकले हुए पिंड के साथ क्या होता है, इसका उत्तर देना असंभव है। किन्तु यह निश्चित है कि स्वराट् सत्त्व में कामना विषयों को अपने उपयोगार्थ अपने वशवर्त्ती करने, अथवा मनमाने रूप में अपनी शक्ति के उपभोग का सुख अनुभव करने के लिए उन्हें पुनर्व्यवस्थापित करने से कभी विरत नहीं होगी और यद्यपि यह सही है कि प्राकृतिक विषयों का नियोजन समरूप तथा असीम दिक् के अभ्युपगम पर आभारित है, ऐसा दिक् जो शुद्ध ब्रह्मांड है, जो उन कामनाओं का अनुसरण करेगा जो किसी भी प्रकार सत्त्वों और वस्तुओं का मनमाना नियोजन नहीं करेंगी।

मानवीय कामना ऐसी नहीं है जो स्वराष्ट्र जीवन के अनुकूल हो। क्या ऐसे जीवन के प्रसग में कामनाओं की चर्चा की भी जा सकती है ? किन्तु यह निश्चित है कि मनुष्य में एक ऐसी कामना है जो सहजतमा वैश्व सहभाव को लक्षित करती है उपकरणात्मक नियोजन को नहीं । यदि यहां प्रस्तुत विश्लेषण सही है तो ऐसी कामना की उपकरण रूप में कल्पित संसार में उपस्थिति हमें यह संकेत करती है कि यह संसार ऐसे समागम के उससे कहीं कम विपरीत है जितना कि हम समझते हैं। अन्यथा हमें यह मानना होगा कि मनुष्य ऐसे संसार में रहता है जो उसकी मर्मान्तिक याचनाओं के प्रति निर्दय है।[41] असीम दिक् की अवधारणा प्रकृति के नियंत्रण की हमारी कामना से उत्प्रेरित है, यह हमें स्वयं दिक् के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं देती। जिस सीमा तक हम नियंत्रण की कामना के बजाय सहभाव की कामना करते हैं उस सीमा तक ही हम पाते हैं कि इसका दिक् क्लासिकीय भौतिकी के दिक् से किसी बात में समान नहीं है।

संदर्भ टिप्पणियां

1. इरिक हैल्लर, **दि डिसइनहैरिटिड माइंड** (लंदन, बोबेस एण्ड बोबेस, 1975) पृ. 221–22 (मूल संस्करण, 1952)। यहां इरिक हैल्लर ने अपने को चिन्तन की उस परम्परा में रखा है जिसका आरम्भ एंडर्स निग्रेन ने उस समय किया जब उसने लिखा "कामासक्ति संसार से बचने का एक उपाय है..........विषय के अंतरंग सौन्दर्य का मूल्य..........उसी अनुपात में होता है जितना यह उच्चतर लोक का उद्घाटन करता है।" **इरॉस एला नोसियां क्रैतियेन द लामूर ए से त्रास–फॉर्मेसियो** । (पैरिस, 1944) जिल्द सं. 1, पृ. 197).

2. इस विचार के उत्कृष्ट विवेचनों में से एक ल्यूसीन लेबर्थेनी रे कृत "एत्यूद रस्युर दकार्ते" लेख द्रष्टव्य। देकार्त–दर्शन को प्रोत्साहित करने वाली परिस्थितियों पर एक विहंगावलोकन के लिए **मर्सेन ऊ ला नौसाँस द्यु मेकानिस्म** (पैरिसः व्रिन, 1943) तथा **ले दैवेलयेमाँ द ला फिज़ीक कार्तेज़ियन** 1646–1712 (पैरिसः व्रिन 1934) भी द्रष्टव्य।

3. यहां हमें संसारों की अनेकता के सिद्धान्त का भी उल्लेख करना चाहिए जिसने वैश्व स्तर सोपानता की सब अवधारणाओं को समाप्त कर दिया और इस प्रकार विश्व के विभिन्न अंशों के बीच गुणात्मक भेदों को समाप्त कर दिया और इस प्रकार विश्व के विभिन्न अंशों के बीच गुणात्मक भेदों को समाप्त कर दिया। सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में इस सिद्धान्त पर जो वाद–विवाद हुआ उसके

सम्बन्ध में द्रष्टव्य एस. एफ. मेसन "साइंस एण्ड रिलीजन इन सेवेंटींथ सेंच्युरी इंग्लैण्ड–" चर्ल्स वेब्स्टर द्वारा संपादित **इंटलेक्चुल रेवोल्यूशन ऑफ दि सेवेंटींथ सेन्चुरी** (लंदन तथा बोस्टन, रूटलज एण्ड केगन पाल, 1974) पृ. 212–216 और अधिक विस्तृत प्रस्तुतीकरण के लिए द्रष्टव्य जी. मैक कूल "दि रोस–विल्किंस कंट्रोवर्सी' **एन्नल्स ऑव साइंस**, II (1938), पृ. 153–189।

4. ज्योर्ज आर. हीले द्वारा **मेकेनिस्टिक साइंस एण्ड दि फ्रेंच जेसुट्स: ए स्टडी आफ दि रैस्पोंसेज आफ दि जर्नल दि ट्रेवौक्स (1701–1762) टु देकार्त एण्ड न्यूटन**) एन्न आरबर, यूनीवर्सिटी माइक्रोफिल्म्स्. डोक्टोरल डिस्सर्टेशन सीरीज पब्लिकेशन, संख्या 20515 (पृ. 61 और जैसाकि पियर्रे ड्यूहैम ने कहा, देकार्त के अनुयायी विभिन्न गुणों को द्रव्य के आधार से रहित करने की प्रवृत्ति को बहुत आगे ले गए।" **ला थेओरी फिजिक, सोन ऑब्जेक्ट, सा स्ट्रक्चर**) पैरिस, मारिवीरेल 1914, दूसरा संस्करण पृ. 15.

5. "दीवार उतनी ही वास्तविक रूप से सफेद है जितनी लम्बी–चौड़ी है और यह उसी अर्थ में सफेद है।" बर्कले, **प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नोलेज** सं. 99 और पुनः "वे लोग तब कितनी मूर्खतापूर्ण बात करते हैं जब वे वस्तुओं के स्वलक्षण और उनके हमें प्रस्तुत रूपों में भेद करते हैं और इनमें प्रथम को यथार्थ कहते हैं। फिलॉसफिकल कॉमेंट्रीज, संख्या 832, जी. डब्लू. आर. एर्ड्ले के अनुमार बर्कले का दर्शन बौद्धिक डिमारेलाइजेशन की उस चुनौती का सामना करने का प्रथम प्रयत्न है जिसके सम्बन्ध में जोहन डोन्ने जैसे लोगों ने खेद प्रकट करते हुए कहा था कि "नवीन दर्शन द्वारा प्राकृतिक साधनों को केवल उपभोग्य के रूप में देखने की प्रवृत्ति के स्थान पर बर्कले ने प्रकृति के साथ मनुष्य के सुखद सम्बन्ध का भाव जागृत किया, जैसा भाव हमारा अपने घर के प्रति होता है। द्रष्टव्यः बर्कलेज फिलोसोफी ऑफ नेचर, **फिलोसोफी सीरीज सं. 3** (यूनीवर्सिटी ऑफ ऑकलैण्ड, 1962) पृ. 10।

6. रिचार्ड वैस्टफाल ने अपने एक लेख "न्यूटन एण्ड एब्सोल्यूट स्पेस" **आर्किवे एन्तर्नेसियोनाले दि स्तोआर दे सियेंस** 67 (1964) 121–132 में देकार्तीय दिक् की न्यूटोनीय दिक् से तुलना की है। इस विषय पर मैंने भी एक दूसरे दृष्टिकोण से दि फिलोसोफिकल कॉन्सिक्वेन्सेज़ ऑव दि फोर्म्यूलेशन ऑव दि प्रिंसीपल ऑव इनर्शिया, **डायोनिजीज़** 123 (1983) 1–29 में विचार किया है।

7. रेने देकार्त "डिस्कोर्स दि ला मीथोडे "**ऊवरे ए लैतरे** (पैरिस, गैल्लीमार्ड, 1966), पृ. 196।

8. ज्योर्ज हीले द्वारा उद्धत, द्रष्टव्य पूर्वोध्दृत।

9. सत्रहवीं शताब्दी के बाद विश्व–मीमांसा (कॉस्मोलोजी) की संभावना समाप्त करने के सम्बन्ध में द्रष्टव्य जैक्वेस माल्यूं पोती, **दि रीबर्थ ऑफ कोस्मोलोजी** (न्यूयार्क, नोफफ, 1976) इस परिस्थिति के पुनः उत्पन्न होने के सम्बन्ध में द्रष्टव्य स्टेफेन टूल्मीन, **दि रिटर्न टु कोस्मोलोजी: पोस्ट मॉडर्न साइंस एण्ड दि थिम्रोलोजी ऑफ नेचर** (बर्कले, यूनीवर्सिटी ऑव केलीफोर्निया प्रेस, 1982)।

10. यहां उन सब कृतियों का उल्लेख असम्भव है जो सत्रहवीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रांति तथा उसके सांस्कृतिक परिणामों से सम्बन्धित है। इनमें सर्वाधिक पूर्णवृतियों में से एक चार्ल्स वैब्स्टर की **दि ग्रेट इंस्टॉरेशन: मेडिसन एण्ड रिफोर्म, 1626–1640** (होल्म्स एड मीइर्स पब्लिशर्स, 1976) है। यहां यह कहना उपयुक्त होगा कि वैज्ञानिक क्रान्ति के परिणाम मिश्रित हुए। निश्चय ही एक ओर ब्रह्मांड विषयक परम्परागत दृष्टि की समाप्ति से एक आतंक था किन्तु दूसरी ओर इस बोध के कारण कि मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने जा रहा है, एक असाधारण उत्साह भी था। उदाहरण के लिए विक्टर हैरिस ने पाया कि 1570 के बाद प्रकृति के अत्यधिक प्रदूषण का विचार हावी हुआ और इसे बहुत बढ़ावा मिला। किन्तु 1630 में एकाएक इसका स्थान पुनरुत्पन्न प्रकृति के विचार ने लिया। **आल कोहेरेंस गॉन** (यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, 1949) पृ. 87. जहां तक इंग्लैण्ड के सत्रहवीं शताब्दी के बौद्धिक संदर्भ में विज्ञान की भूमिका का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में आज मान्यता यह है कि इसका योगदान उससे बहुत कम था जितना कि अब तक समझा जा रहा था। यह मत माइकिल हंटर का है जो कि उसने अपनी पुस्तक **साइंस एण्ड सोसायटी इन रेस्टोरेशन इंग्लैण्ड** (कैम्ब्रिज, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1981) में व्यक्त किया है। फ्रांस के सम्बन्ध में ज्यां एह्राड की पुस्तक **ल ईदी द नेचर एन फ्रांस ए ल ओबे** (पैरिस, फ्लेम्मेरिअन देस ल्यूमीरे 1970) द्रष्टव्य। वैज्ञानिक क्रांति पद–प्रयोग के इतिहास के सम्बन्ध में द्रष्टव्य आई. बर्नार्ड कोहेन **दि एटींथ सेंच्युरी ऑरिजिंस् ऑव दि कांसेप्ट ऑव साइंटिफिक रेवोल्यूशन** (जर्नल ऑव दि हिस्ट्री ऑव आइडियाज, 11) (1976) 257–288.

11. इम्मेनुअल लेवीनास के अनुसार "विषयापेक्षावृत्ति में निहित–अभिप्रायों के असंख्य क्षितिज गर्भित रहते हैं और यह प्रस्तुत विषय को एक असीम रूप से विस्तृत भूमिका पर रखकर ही देखती है।" एं दे कूवरॉ लैग्जिस्तॉस आवेक हुसर्ल ए हाइडैग्गर, (पैरिस: व्रिन 1967), पृ. 30।

12. "अतिक्रामी विषयी जगत् को तब तक नहीं देखता जब तक वह अपनी पूर्णतः अजागतिक और अदिक्–कालात्मक स्थिति : शुद्ध वर्तमान त्याग नहीं करता।" ओ–देला द्यु रैवंर्समां कपरनीसियां (दि हेग, मार्टिनस निज्होफ, 1976), पृ. 9.

13. हाइडेगर जीवों और वस्तुओं का ऐसा कोई सहज प्रत्यक्ष स्वीकार नहीं करता जो पीछे बौद्धिकता की कोटियों में रूपान्तरित हो जाता है। उसके अनुसार "इंद्रियों के द्वारा ग्राह्य और उनके द्वारा अग्राह्य के बीच, भौतिक और अभौतिक के बीच, पार्थक्य स्थापित करना..........असंतोषप्रद स्थिति है। "डर जत्स फौम ग्रुट (फूलिजन गुंथर–नेस्के, 1957) पृ. 88–89. एरिग्रोन एल. केलकस का कहना है कि हाइडेगर की दृष्टि में वर्ण या प्रकाश या ध्वनियों का शुद्ध संवेदन असम्भव है..........और कि जगद्गत प्रत्येक वस्तु की सापेक्षता में जगत् की एक प्रागनुभविकता है। "ला लेज़ाद दे लैत्र : लॉगाज़ ए पोएजि शे हाइडैग्गर (पैरिस व्रिन् 1980) पृ. 222–223।

यह समझना कठिन है कि हाइडेगर के इस विचार की उसके स्वलक्षण वस्तु विषयक सिद्धान्त से कैसे संगति बैठाई जाय ? यदि जगत् हमें सदैव प्रथम प्रदत्त होता है तो स्वलक्षण वस्तु का क्या होगा ? जहां तक विट्गिस्टाइन का संबंध है **ट्रक्टेटस लोजिको फिलासफीकस** में उसने यह प्रतिपादित करने के बाद कि यथार्थ का सही चित्रण संभव है, ऐसा चित्रण जो अपने से बाहर के तत्त्वों की अपेक्षा नहीं करता, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जगत् का अथवा मन में घटित होने वाली वस्तुओं (घटनाओं) का अव्यवहित ज्ञान संभव नहीं है। जेक्वेस बौवेरेस्से के अनुसार विटिंगस्टाइन को यह तथ्य पूर्णतः ध्यान में था कि हम चाहे जो भी देखें वह नये रूप में देखना और समझना होता है.......क्योंकि उसका स्वलक्षण रूप में और अन्यों से निरपेक्ष कोई अर्थ नहीं होता, उसका अर्थ केवल किसी व्यवस्था और किसी प्रयोग प्रसंग में ही होता है। "**ले मीथ द लैंतैरियोरिते** (पैरिस 1976) पृ. 34 **लैत्र ए ले नेआँ** (पैरिस, गैल्लिमार्ड, 1943) में पहले ही सार्त्र ने यह कहा था कि शुद्ध संवेद की अवधारणा एक "संकर अवधारणा है मनोवैज्ञानिक शुद्ध भ्रांति (पृ. 377–78)। इसका निषेध करने की प्रवृत्ति कि हमें कुछ प्रदत्त या प्रस्तुत होता है, तब से केवल पुष्ट ही हुई है। किसी मूलगत प्रत्यक्ष की विद्यमानता की अवधारणा के जोक्विस डेरिडा कृत विश्लेषण से हम परिचित ही है। वह कहता है "कभी कोई स्थिति प्रत्यक्ष की स्थिति नहीं होती और "प्रस्तुत" वास्तव में प्रत्यंकन का प्रत्यंकन होता है। "**ला वोआ ए ले फ़ैनोमैन** (पैरिस 1967) अथवा विल्लर्ड ओर्मान क्वाइन का विश्लेषण, जिसके अनुसार पालगोचेट के शब्दों में, अप्रत्याख्येय प्रमाण की खोज और आधारों के प्रति आग्रह ये दो प्राचीन ज्ञानमीमांसा के आराध्य रहे हैं. उन्हें समाप्त करना आवश्यक है। **क्वाइन एन पर्स्पेक्टिव** (पैरिस फलेम्मेरिअन, 1978), पृ. 36 रिचर्ड रोर्टी जाह्न ड्यूई की हाइडेगर और विट्गिस्टाइन से इस बात में समानता देखता है कि इन तीनों के अनुसार "ज्ञान की ऐसी अबधारणा जिसके अनुसार विषय की सम्यक् प्रस्तुति उसके लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है, परित्याज्य है।

"**फिलोसोफी एण्ड दि मिरर ऑव नेचर** (प्रिस्टन, प्रिस्टन यूनीवर्सिटी प्रेस, 1979,) पृ. 9. मूलगत प्रत्यक्ष के, और इस प्रकार ऐसे किसी भी विषय के जो हमारे ज्ञान को प्रस्तुत होता है, इस प्रत्याख्यान को अधिक सम्यक् रूप में समझने के लिए हमें लेस्जेक कोलाकोव्स्की के साथ यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में विषयिता के निवारण के प्रयत्न किए गए थे, क्योंकि इस युग में विषयी को एक ऐसी कल्पना के रूप में देखा गया जिसके अनुरूप वस्तु जगत् में कुछ भी नहीं है, ऐसा कुछ जो अनुचित रूप से वस्तुजगत् पर आरोपित कर दिया गया है। आवश्यक बात यह मानी गई कि ऐसे शुद्ध अनुभव तक पहुंचा जाय जो किसी भी प्रकार की विषयिता से मुक्त हो। "**दि एलिअनेशन ऑफ रीजन : ए हिस्ट्री ऑव पॉजिटिविस्ट थॉट** (न्यूयॉर्क, डबल डे, 1968) पृ. 104 (मूल संस्करण 1966)। इतने क्रांतिकारी अभियान की अत्यन्त उग्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद से आधुनिक दर्शन के एक बहुत बड़े भाग को शुद्ध अनुभव की खोज से उत्पन्न विलगाव (एलियनेशन) के रूप में देखना चाहिए। इस प्रकार के किसी शुद्ध अनुभव का प्रत्याख्यान वास्तव में विषयी के, जगत में पुनः प्रतिष्ठित करने का परोक्ष उपाय है। इस पुनस्स्थापना का उस समय होना जब विषयी के अवसान की घोषणा की जा रही थी, आधुनिक दर्शन की अस्पष्टताओं और व्यामिश्रों का द्योतक है।

14. जहां तक मुझे ज्ञात है, आधुनिक भौतिकी के विकास पर लिखी गई सभी अतक-नीकी कृतियों में विश्व के आधारशिलाभूत कणों का अवगमन असंभव माना गया है किन्तु साथ ही सभी लेखक इस बात पर भी बल देते हैं कि इस स्थापना का समकालीन चिन्तनविधाओं पर आज भी एक अत्यन्त सशक्त सम्मोहक प्रभाव है। हर्बर्ट बटरफील्ड ने **दि ऑरिजिंस ऑफ मार्डन साइंस** (लंदन, 1949), में इस विषय पर कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण बातें कहीं हैं।

15. आर. एम. एल्बिरिस·······बिलां लेतेरेयर द्यु बेंतियेम सियेवल (पैरिस, ऑबीर मोंटेग्ने, 1962)।

16. वस्तुओं का उनकी उपस्थिति में साम्मुख्य होने पर व्याख्या वह चाहे जिस रूप में भी हो केवल अतिरिक्त ही हो सकती है·······वस्तुएँ अर्थों का अत्याचार बिना विरोध के स्वीकार करती हैं, किन्तु प्रकटतः और अधिक स्पष्ट रूप से यह दिखाने के लिए कि वे मनुष्य के लिए कितनी विदेशी (अगम्य अपरिचिता) रहती हैं : "ऐलेन रोब्वे-ग्रिल्लेट-पूर अं गूवो रोमां (पारी ले से, ऐदीसियों द मिनई, 1963)।

17. विन्फ्रीड एंगर के अनुसार, रोब्बेग्रिल्ले के लिए "त्रि-आयामात्मक दिक् ऐसे प्रकार्य अपनाता है जो लेखक के किसी विशिष्ट दृष्टि बिन्दु के लिए अवकाश नहीं रहने

देते। "**दि फ्रैंच नॉबल** (न्यूयॉर्क, फ्रीडरिक उजर, 1969), पृ. 221, जर्मन भाषा से अनूदित विन्फ्रीड एंगर यह जोड़ना भूल जाता है कि किसी दृष्टिकोण के नहीं होने पर न केवल लेखक ही तिरोहित हो जाता है, बल्कि जगत् भी तिरोहित हो जाता है।

18. "विषय का सरल ग्रहण भी वास्तव में उसका ग्रहण नहीं होता। नैल्सन गुडमैन का अनुसरण करते हुए वर्जिल सी. एल्ड्रिख कहता है "कुछ भी सहज रूपेण नहीं देखा जाता।" मिरर्ज., पिक्चर्स, वर्ड्स, पर्सेप्शन" **फिलोसोफी** 55 (1980) 39; 56 और हाइडेगर, विट्गिंस्टाइन, ड्यूई, क्वाइन अथवा डेरिडा से बहुत पहले अर्न्स्ट कासीरर ने यह प्रतिपादित किया था कि व्यष्टि वस्तुएँ प्रातिभ में गृहीत अथवा प्रस्तुत होने के बजाय बौद्धिक क्रिया के अन्त में उपलब्ध होती हैं। उसके आरम्भ में नहीं।" **सबस्टांस बेग्रिफ उंट फ्रूंक सियोत** बेग्रिफ **उंटर जुखुगेन यूरबडी ग्रुंट, फामेन डर एर्केन्टनिस क्रिटीक** (बर्लीन, ब्रूनो कासिरेर, 1910)। इसके अनुरूप ही ज्याँ पिआगेर कहता है–"वैज्ञानिक विषयनिष्ठता (वैज्ञानिक विकास क्रम में) अब वस्तु का अव्यवहित प्रत्यक्ष नहीं रह गई है.........कोई वस्तु स्वलक्षण नहीं होती।" **इंट्रोडक्शन ए ला इपिस्टेमोलोजी जेनेटिक्** (पेरिस, पीयूएफ, 1974) खंड 2, पृ. 67–69।

19. यह थोमस मोल्नर का मत है जो उसने **दि यू ए ला कौनेयसांस द यु रे अलर पेरिज**, 1976). में प्रतिपादित किया है।

20. कांट के दर्शन के आरम्भिक चरणों में प्रत्यंकन, विशेषतः ज्यामितिक प्रत्यंकन (ज्योमेट्रिक रिप्रेजेंटेशन) के महत्व के सम्बन्ध में द्रष्टव्य 'कांट एण्ड न्यूटोनियन साइंस : दि प्री क्रिटिकल पीरियड" रोनाल्ड कालिजर, **आई एस आइ एस 253** (1979)।

21. जैसा कि लुडविग विट्गिंस्टाइन कहता है–"यह केवल वह है जिसे उससे भिन्न भी प्रत्यकित किया जा सकता है जो इसके सम्बन्ध में भाषा कह सकती है।" **फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशंस्** (ऑक्सफोर्ड, ब्लैकवैल, 1964), पृ. 84।

22. शब्द के लिए घातक इस दृष्टि का आविर्भाव देकार्त के रेगुली III में सब से अधिक प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत हुआ है।

23. वाल्टर ओंग–**दि प्रेजेंस आफ दि वर्ड** (न्यू, हैवन, येल यूनीवर्सिटी, प्रेस 1967, आवृत्ति 1981) पृ. 221.

24. भाषा को, और इससे सम्बन्धित ज्ञान की दूसरी विधाओं को, इधर जो महत्व मिला है वह सम्भवतः उस दर्शन की ओर लौटने का संकेत है जिसके अनुसार संसार अपने तत्त्व में (अपने उपादान में) शब्द है, भौतिक द्रव्य नहीं, अथवा

जिसके अनुसार, संसार अपने तत्त्व में (अपने उपादान में) शब्द है, भौतिक द्रव्य नहीं, अथवा जिसके अनुसार, जैसाकि लौइस बौयर ने लिखा है, "संसार का सब ज्ञान·······केवल एक भाषा रूप का ज्ञान है।" **कोस्मोस** (पैरिस, लैस, एडीशस् डुसर्फ, 1982) पृ. 42, बौयर के अनुसार संसार अरस्तुई ज्ञानमीमांसा के विशिष्ट लक्षणों में से एक है। ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक पदार्थ संसार को लोगोस के रूप में स्वीकार करने पर निर्भर होता है। वह पदार्थ जितना ही अधिक वास्तविक माना जाता है, उतना ही कम संसार भाषा के रूप मे कल्पित होता है, और जितना ही कम वह पदार्थ के रूप में गृहीत होता है उतना ही अधिक वह भाषा के रूप में देखा जाता है। यहां हमें केवल बर्कले की ओर ध्यान आकृष्ट करना है जिसने भौतिक पदार्थ की सत्ता का निषेध किया। उसके दर्शन का वैशिष्ट्य इसी बात में है कि प्रकृति को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसका भाषा के अनुरूप विस्तार आवश्यक है, "क्योंकि गोचर जगत् (फिनोमिना) में घटना-क्रम अर्थमूलक (सिमेंटिक) परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत अग्रसर होता है, कारणात्मक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत नहीं। माइकल एबेचर, **ला मतियर दा ले सीयेंसे एतँ** फिलाजोफि (पैरिस, ऑबीद–मोटइग्ने, 1972) पृ. 94.

25. सत्ता के प्रतिमात्मक पुनर्निमाण में वैज्ञानिक आस्था अर्न्स्ट मैश में अपनी पराकाष्ठा पर मिलती है जिसके लिए विज्ञान का लक्ष्य "विश्व की पूर्णतम और संगततम प्रतिमा का निर्माण करना है।" **डी प्रिंसिपीन डर वयरमेलेहरे** (लीपजिग, 1896) पृ, 366 किन्तु हीन्रिख हर्टज का कहना है कि·······अर्न्स्ट मैश उस सबको प्रतिसिद्ध कर देता है जो इस प्रत्यंकन की सीमा में नहीं आता, जिसमें चिद्द्रव्य और विस्तार द्रव्य का प्रत्यय भी सम्मिलित है। इस प्रकार मैश अपने को बौद्ध ज्ञान-मीमांसा की स्थिति में पाता है, जैसाकि रॉबर्ट बॉबीर ने **ला पेंसीडि अर्न्स्ट-मैश**(पैरिस, 1923) में कहा है। अर्न्स्ट मैश से प्रेरित वादों के लिए द्रष्टव्य जोह्न टि ब्लैक मोर कृत अर्न्स्ट मैश: हिजवर्क, लाइफ एण्ड इन्फ्लूएस (बर्कले, यूनीवर्सिटी ऑव केलीफोर्निया प्रेस, 1972) विज्ञान के क्षेत्र में मैश का एक विरोधी एल. बोल्ज़मान था जिसके विचार रेनेडुगास द्वारा **ला थिओरी फिजिक ओ सेंस द बोल्ज़मान ए से ओलोंजेमां मादर्न** (नय शाटेल, एदीसियों दयु ग्रिफों, 1975)। बोल्ज़मान प्रत्यंकनों के विरूद्ध नहीं था, उसकी मांग केवल यह थी कि कल्पना को केवल संवेदन–प्रदत्तों के आश्रित नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत वियेना सर्कल यह दिखाना चाहता था कि अवधारणाएँ एन्द्रिय आधारों पर से अपने लिए सामग्री ग्रहण करती हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार विज्ञान, विशेषत: भौतिक विज्ञान, में सब कुछ है, अथवा भविष्य में होगा। जो विश्व के सम्बन्ध में हम जान सकते हैं। "स्टेन्ले केवैल. **एग्जिस्टेंश्यलिज्म एण्ड एनेलिटिक फिलोसोफी** डुएडलुस, 93 (1964) पृ. 946-974. जॉन हील कहता है कि विटिग्स्टाइन ऐसा

भाषा–स्तर प्रस्तुत करना चाहता था जिस पर अस्पष्टता और व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहती, जिस पर सब व्याख्याएँ अनावश्यक हो जाती हैं.......अवश्य यह दृष्टिकोण बाद में उसने छोड़ दिया था।'' द्रष्टव्य ''कोग्नीशन एण्ड रिप्रेजेंटेशन,'' **आस्ट्रेलियन जर्नल आव फिलोसोफी**, 58 (1980) 158–168।

26. रिचर्ड रोर्टी (**फिलोसोफी एण्ड दि मिरर आफ नेचर** (प्रिस्टन, प्रिस्टन यूनीवर्सिटी प्रेस, 1979) पृ. 319, 394.

27. इस परियोजना को कार्यान्वित कर सकने की असंभवता विट्गिंस्टाइन ने स्पष्टतः देख ली थी जिसने, जैसाकि जेक्वेस बावेरेस्से ने दिखाया है, ''इस बात का प्रतिवाद किया कि ऐसे मूल संकेतों का वास्तव में ही अस्तित्व है जिनकी व्याख्या संभव नहीं है।'' **ले मीथ द लैनेरियोरिते**, पूर्वोद्धृत, पृ. 396 जोह्न पासमोर 1962 में प्रकाशित अपनी पुस्तक में कहता है–''दार्शनिक यह समझते थे–उसका ध्यान विशेष रूप से विटिगंस्टाइन के **ट्रक्टेटस** तथा रसल के **तार्किक अणुवाद** की ओर था–किसी वाक्य के अर्थ का आत्यंतिक विश्लेषण संभव है, ऐसा विश्लेषण जो सरलतम घटकों तक जा सकता है और इस प्रकार अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट कर सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसे कोई सरल घटक नहीं हैं। **ए हंड्रेड इयर्स आफ फिलोसफी** (लंडन, जेरल्ड डकवर्थ, 1962) पृ. 430–जहां तक वैज्ञानिक इतिहासज्ञों और दार्शनिकों का प्रश्न है वे बहुत समय से जानते हैं कि जिन्हें हम विज्ञान और अपनी दैनिक चर्या में प्रेक्षण वाक्य कहते हैं उनमें उससे कहीं अधिक निहित रहता है जितना हमारे क्षणिक अनुभव में ग्राह्य होता है।'' अनर्स्ट नेगल **टीलियॉलॉजी रीविजिटिड एंड अदर एस्सेंज़ इन दि फिलोसोफी एंड हिस्ट्री आफ साइंस** (न्यूयार्क, कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस 1979) पृ. 92।

28. हाइडेगर में प्रत्यंकन या प्रतिमा की आलोचना के लिए द्रष्टव्य जे. एल. महता–**दि वे एंड दि वीयन** (होनोलुलु, यूनीवर्सिटी आफ हवाई प्रेस) पृ. 381–384)।

29. जोसेफ मज्जेओ के अनुसार ''कविता की भाषा तत्त्वतः सम्बन्धों की भाषा रूप–कात्मक भाषा के रूप में अवधारित की जाती है, अपरोक्ष अभिधान की भाषा के रूप में नहीं।'' **नेचर एंड दि कोस्मोसः एस्सेज इन दि हिस्ट्री आफ आइडियाज** (न्यूयार्क, डेबोर साइंस पब्लिकेशंस, 1977) पृ. 29. ''अपरोक्ष निर्देश अथवा अभिधान की भाषा'' अपने द्वारा अभिहित अणुओं के बीच अभौतिक सम्बन्धों की संभावना का निषेध कर अवैश्व भाषा होती है, अर्थात् ऐसी भाषा जो एक समरूप और असीम ब्रह्माण्ड का निर्वचन करती है। किन्तु कविता की भाषा हमें जगत् के स्वीकृत और दृढ़ता से सामूहित यथार्थ से, ऐसे यथार्थ से जिसके सम्बन्ध में हम समझते हैं कि यह हमारे रहने का जगत् है, हमें स्वतन्त्र करती है और

हमारे सम्मुख बहुविध सम्बन्धों तथा एक दूसरे जगत् को उद्‌घाटित करती है। लिओ स्पिट्ज़र, **क्लासिकल एंड क्रिश्चियन आइडियाज ऑफ वर्ल्ड हार्मनी** (बाल्टिमोर, दि जोह्न होप्किंस, प्रेस 196', पृ 23.

30. कार्ल लूविथ ने यह सन्देह अपने लेख "दि नेचर आफ मैन एंड दि वर्ल्ड ऑफ नेचर" में बहुत सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। द्रष्टव्य-**मार्टिन हाइडेगर इन यूरोप एंड अमेरिका**, सं. एड्वर्ड जि. बेल्लार्ड एंड चार्लेस इ. स्कॉट (दि हेग, मार्टिनस निज्जोफ्फ, 1973) पृ. 37–47.

31. बर्कले और हुस्सर्ल जैसे विरोधियों के अतिरिक्त हम स्वभावतः लाइब्नीज का भी उल्लेख करेंगे जिसके अनुसार प्रकृति में कुछ भी आत्मा-रहित नहीं है। **आपि-स्क्यूले फिलाजोफिकस् शोआसी**, पॉल श्रीकर द्वारा लातीनी भाषा से अनुदित (पैरिस, हेटीर-बोइविन, 1954).

32. माइकेल अम्बेचर-**कोस्मोलोजी ए फिलाजाफी** पैरिस, (ऑबीरमोटिआग्न, 1967) पृ. 322.

33. "आकर्षण-रहित संसार नियम्य भी होता है……संसार के लिए पराया मनुष्य अपने को संसार के अधिष्ठाता के रूप में स्थापित करता है।" **ला नूवेल अलि-यांस : मेतार्मोफोजे दे ला सियेन्स** (पैरिसः गैल्लीमार्ड, 1979) पृ. 28.

34 ज्याँ स्तारोबिस्की, **ल ओईले विवांत** (पैरिस : गैल्लिमार्ड, 1961) पृ. 10.

35. जोनेस्को दिक् की रिक्तता का उल्लेख करते हुए अपने जर्नल-**एन मीट्टेस** में लिखता है : मेरा आंतर दिक् स्वतन्त्र नहीं है। मैं अपने ही द्वार तक नहीं पहुँच सकता हूँ, खिड़की तक भी नहीं कि कम से कम कुछ हवा ही भीतर आ सके।" (पैरिस, मक्यूरे दि फ्रांस, 1967) पृ 59. ऐसा प्रतीत होता है मानो अठार-हवीं शताब्दी से **अन्विष्यमान् दिक्** बीसवी शताब्दी में विषयों के संसार में पुनः प्रविष्ट हो गया।

36. आधुनिक साहित्य और दर्शन में आबद्धता और एकाकीपन पर द्रष्टव्य बैन् लेजेरे मिजूवस्कोविक्, **लॉन्लीनेस इन फिलोसफी, साइकोलोजी एंड लिटरेचर** (एस्सन, वानगोर्कम, 1979)।

37. अरस्तु के अनुसार, प्राकृतिक वस्तुओं में अपने को परिचालित करने और रोकने की एक सहज प्रवृत्ति होती है : गति और स्थिति का एक तत्त्व (फिजिक्स, पुस्तक II, I, 1920) "सब प्राकृतिक वस्तुएँ अपने स्थान के अनुसार स्वतः गतिमान हैं।" प्रकृति की अरस्तुई व्याख्या के लिए द्रष्टव्य फ्रीड्रिख सोल्मसन, **अरिस्टॉटल्स सिस्टम आफ दि फिजिकल वर्ल्ड**) इथाका, कार्नेल यूनीवर्सिटी प्रेस, 1960)।

38. विलियम गिल्बर्ट ने दिक् की अरस्तुई अवधारणा को एक बहुत गहरा आघात दिया। यद्यपि उसने कैल्लर के सिद्धान्त को अपनी व्यवस्था में बचाये रखा जिसके अनुसार वस्तुओं में आकर्षण और विकर्षण की अतिप्राकृतिक शक्ति है। **डे मुंडो नोस्ट्रो सबलूनारी फिलोसोफिआ** नोवा (एम्स्टर्डम, 1951) लि.-ज्ञा, अ. 8, पृ. 144.

39. "शुद्ध विषय, अथवा वस्तु, अथवा पिंड का प्रत्यय आत्म व्याघातक है।" रेमॉड रूयेर, **ला ग्नोसे डि प्रिंस्टन** (पैरिस, फयर्ड, 1974) पृ. 42.

40. न्यूटन के अनुसार "कोई भी सत्त्व दिक् से किसी न किसी प्रकार संबंधित हुए बिना अस्तित्ववान् नहीं हो सकता।" **अनपब्लिश्ड साईंटिफिक पेपर्स आफ इसाक न्यूटन**, ए रूपर्ट हाल एंड मेरी बोआस हाल (सं) (केम्ब्रिज, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, 1962) पृ 98. न्यूटन इस प्रश्न पर देकार्त के पूर्णतः विपरीत था। यह विरोध हेनरी मोर द्वारा देकार्त को लिखे गए पत्र से भी स्पष्ट है। उसके अनुसार "किन्तु मैं इस धारणा को चुनौती देता हूँ कि आत्मा संपूर्ण शरीर को अध्युषित नहीं करता। अन्यथा, मैं आपसे जानना चाहूंगा कि यह कैसे संभव है कि आत्मा..........शरीर से इतना सम्यक् रूप से जुड़ा है।" **उवरे द देकार्त** में देकार्त को द्वितीय पत्र प्रकाशक विक्टर कौजिन पैरिस, 1824-1826) खंड-पृ. 229. न्यूटन मोर के दर्शन से प्रभावित था।

41. मैं समझता हूं कि रूडोल्फ बुल्टमान का जगत् का दिव्य दृष्टि से विरोध देखने में गहरा आग्रह था और यही उसके मिथकीकरण कार्यक्रम के मूल में था। उदाहरणतः द्रष्टव्य—"यसुस क्रिस्तुस उंट डी मिथोलोगी", **ग्लाउबेन उंट वेर्स्टेएन : गेजामेल्टे आउफजात्से फोन रूडोल्फ बुल्टमान** में संकलित (ट्यूबिजन : मोह्र, 1965) पृ. 178. बुल्टमान ने आधुनिक विज्ञान के परिणामस्वरूप उद्भूत जगत् की अवधारणा की सम्मोहकता को सापेक्ष रूप में देखा। बुल्टमान के कार्य के आलोचनात्मक अध्ययनों में एक अत्यंत श्रेष्ठ योगदान हान्स जोनाज का लेख है : "इज फेथ स्टिल पॉसिबल ? मैमोरीज आफ रूडोल्फ बुल्टमान एंड रिफलैक्शंस् आन दि फिलोसोफिकल एस्पेक्ट्स आफ हिज वर्क" **हार्वार्ड थिओलोजीकल रिव्यू** 75 (1982) 1–24. मेरे विचार से यह आलोचनात्मक समीक्षा कार्ल जास्पर्स की समीक्षा से उत्कृष्टतर है। कार्ल जास्पर्स का लेख "वारहाइट उंट उन्हाइल उर बुल्टमान्शेन एन्ट मिथोलोगि जीरूंग" उसकी पुस्तक **रूडोल्फ बुल्टमानः डी फाग्रे उर एंटमिथोलोगिजीरूंग** (म्यूनिख : पाइपर, 1954) पृ. 5–56. प्रोटेस्टेंट—ईश्वर मीमाँसा पर बुल्टमान के प्रभाव के अधिक साधारण विश्लेषण के लिए द्रष्टव्य हींज जेह्र्ट—**डी जाखे मिट माट, डी प्रोटेस्टांटिशे लोलोगी हम स्वांतिसवशटेशन यार हुटर्ट** (म्यूनिख, पाइपर, 1966)।

साहित्य और साहित्यिक अध्ययन : एक परिभाषा की खोज

जैकलीन डी रोमीली

मुझे मेरे कार्यक्षेत्र के अनुसार वैज्ञानिक न कह कर एक साहित्य का विद्यार्थी कहना ज्यादा उचित होगा। वास्तव में मैं ग्रीक साहित्य की विशेषज्ञा हूँ। यहां यह कह देना उचित होगा कि जब आज विविध शास्त्रीय विषयों के भेद, उनकी अपनी प्रणालियों, उनके औचित्य, और उन सब में सामन्जस्य की संभावनाओं का अध्ययन किया जा रहा है, तो मुझे ऐसा लगता है कि जो प्रचलित, महत्वपूर्ण परिभाषाएँ साहित्य और साहित्यिक अध्ययन के विषय में हैं, वे अस्पष्ट होती चली जा रही हैं। इस कारण हमारे लिये आवश्यक हो जाता है कि अनुसंधान की महत्ता और संस्कृति की गरिमा की रक्षा के लिये हम इस विषय में कोई अनुकूल निष्कर्ष पर पहुंचे।

हमारी धारणा के विपरीत "साहित्य" के बारे में कोई धारणा स्पष्ट नहीं है और यह अधिक से अधिक अस्पष्ट होती जा रही है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि साहित्य का जन्म तब हुआ जब शब्दों का लिखित रूप में प्रयोग किया जाना प्रारम्भ हुआ। पर यह मूल स्थिति भी विवाद से परे नहीं है। इस पर काफी कुछ विचार-विमर्श हो चुका है कि हमारी संस्कृति के मूल स्रोत मौखिक कविता में ही पाये जाते हैं। क्या

---

* Jacqueline De Romilly : Literature and Literary Studies : Search for a Definition. **Diogenes**, No. 132 Winter 1985, pp. 1–16.

अनुवाद : डॉ. काशी प्रसाद

हमारे लिये यह संभव है कि महाकाव्य के मौखिक पाठ और कई शताब्दी पर्यन्त उसी के लिपिबद्ध किये जाने के बाद हम इनके भेद को बतला सकें ? यह एक नाज़ुक और संदेहास्पद बात होगी कि हम केवल उसे ही जो लिखा गया है साहित्य की संज्ञा दें ।

जैसी प्रचलित धारणा है, हमें दो प्रकार का लेखन मिलता है जो न केवल साहित्य से, पर आपस में भिन्न है ।

पहला वर्ग विशेष-अध्ययन से सम्बन्धित है । हर एक इस बात को मानता है कि बीज गणित की पुस्तक या विद्वत्तापूर्ण चिकित्सा सम्बन्धी लेख साहित्य की श्रेणी में नहीं आते । परन्तु जिस आसानी से हम विशुद्ध विज्ञान के अध्ययनों का विभाजन कर सकते हैं उसी आसानी से मानविकी क्षेत्र में इनका विभाजन नहीं कर सकते । एक इतिहास की पुस्तक साहित्य की श्रेणी में नहीं आती, पर टेसिटस, रेज़ और मिशेलर साहित्य का ही अंग हैं । उसी प्रकार एक गम्भीर दर्शन की पुस्तक साहित्य की वस्तु नहीं है : पर प्लेटो, मॉनटेन और रूसो को साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता । सार्त्र ने दर्शन और साहित्य दोनों में पुस्तकें लिखी हैं । परन्तु मॉनटेन का वर्गीकरण करना कठिन है । वास्तव में सीमाओं को बांधने से विषय स्पष्ट नहीं होता । किसी लेखन को साहित्य कहा जाना तब ही उपयुक्त है जब वह प्राप्त हो । परन्तु किसके द्वारा ? और अगर वह आनन्द प्रदान करता है तो किस प्रकार का ? अन्त में विशेषज्ञों के लेखन से अपने को पृथक कर साहित्य निरी कल्पना की वस्तु बनकर रह गया (जैसे उपन्यास या कविता) और रूप–विधान पर आधारित हो केवल आनन्द प्राप्ति का साधन ।

दूसरे सिरे पर इसके बिल्कुल विपरीत ऐसा लेखन मिलता है जिसे भी साहित्य नहीं कहा जा सकता । इसका उद्देश्य केवल सम्प्रेषण है और शीघ्रता से, बिना किसी चिन्तन के इसका निर्माण होता है । इसका उदाहरण हमें मीडिया में मिलता है । साफ तौर पर अखबारों में छपे छोटे छोटे लेखों को साहित्य नहीं कहा जा सकता । परन्तु एक प्रसिद्ध पत्रकार द्वारा लिखित सम्पादकीय को हम साहित्य की श्रेणी में रख सकते हैं । ऐसे ही साहित्य समीक्षा या राजनैतिक प्रबन्ध भी साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं बशर्ते इनमें गहन विचारों को एक विशेष रूप प्रदान कर अभिव्यक्त किया गया हो ।

परन्तु ये सीमाएं सदा अस्पष्ट रही हैं और धीरे धीरे और भी अस्पष्ट होती जा रही हैं । इसका कारण वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति है और कुछ हद तक दर्शकों की संख्या में मीडिया के कारण वृद्धि । तब हम किस प्रकार

सीमाओं का निर्धारण करें ? या इन दोनों खंडों के बीच फँसे साहित्य का क्या हाल हुआ है इसे जान सकें।

इस अनिश्चित स्थित को, जब "साहित्य" का अर्थ संकुचित होता जा रहा है, शब्द कोषों ने भी दर्शाया है। अनेक, इन दो तरह के लेखन में, कोई सीमा निर्धारण नहीं करते। कुछ तो परिभाषा देना भी उपयुक्त नहीं समझते। इस प्रकार एक विचित्र चक्र सा बन गया है जो पाठक को "साहित्य" से "साहित्यिक" की ओर ले जाता है या फिर बेललेट्र (Belles Lettres), जो एक अस्पष्ट धारणा है, से साहित्य की ओर। फ्रेंच शब्दकोष (Petit Larousse) और 1908 में प्रकाशित इंगलिश शब्द कोष (Oxford New English Dictionary) इसी तथ्य को दर्शाते हैं।

साहित्य को परिभाषित करने के और भी दुष्कर प्रयास अनेक कोषों में मिलते हैं। ये परिभाषाएं निरन्तर नया रूप धारण करती पाई गयी हैं। दोनों फ्रेंच और अंग्रेजी, भाषाओं में जो परिभाषाएं मिलती हैं वह इस शब्द का संबन्ध सांस्कृतिक विद्वत्-समाज से जोड़ती हैं। यही अर्थ 17 वीं शताब्दी के फ्रेंच (Furetiere) कोष और 18 वीं शताब्दी के अन्त में "एनसाई-क्लोपीडिया" में भी पाया जाता है। इनमें कोई और अन्य अर्थ नहीं दर्शाया गया है। यही अर्थ हमें 19 वीं सदी के प्रारम्भ में भिन्न कोषों में मिलता है। परन्तु 1908 में ऑक्सफर्ड कोष ने इस अर्थ को "दुर्लभ और अप्रचलित" करार दिया। इसके विपरीत आज जो प्रचलित अर्थ स्थापित हो गया है वह रचना के सौन्दर्य को अधिक महत्व देता है। 1924 का पॉकिट ऑक्सफर्ड कोष इसी अर्थ पर बल देता है (वे पुस्तकें और लिखित रचनाएं जिनका विशेष महत्व उनकी शैली और स्वरूप पर निर्भर है)। 1970 में एनसाईक्लोपीडिया में जो अर्थ ललित साहित्य (बेल लेट्र) को दिया गया उसके अन्तर्गत रखे गये : "व्याकरण, कविता वक्तृत्वकला, इतिहास, समीक्षा संक्षेप में साहित्य के सारे अंग," पर अब इसमें सीमित रह गये हैं "व्याकरण, कविता, और वाक्-पटुता।" 1984 में वृहत् "लारूस डिक्शनरी–एनसाइक्लोपीडिया" एक सीमित परिभाषा प्रस्तुत करती है : "वे सारी लिखित रचानाएं जिनका उद्देश्य सौन्दर्य बोध कराना है।"

मैं नहीं कह सकती ऐसा अर्थ-परिवर्तन और देशों में भी पाया जा सकता है। परन्तु फ्रेंच और अंग्रेजी के उदाहरणों से यह तो कहा ही जा सकता है

कि अगर यह परिवर्तन और जगह नहीं मिलता है तो वहाँ इस ओर विचार तो किया ही जा सकता है।

यह स्पष्ट है कि ये परिभाषाऐं जो केवल साहित्य के बाह्य स्वरूप पर बल देती हैं, साहित्य को एक निन्दात्मक संज्ञा प्रदान करती हैं। फ्रेंच भाषा में लोग एक तिरस्कृत भावना से कहते सुने गये हैं : "ओह, यह सब कुछ नहीं केवल साहित्य है।" और यह भी देखा गया है, कि लेखक स्वयं को निरा साहित्यिक, जिसका मानव मूल्यों से कोई संबन्ध नहीं है, कहलाने से बचने के लिए अपने बचाव को अपनी पुस्तक के विज्ञापन में ही घोषित कर देता है। यहां तक कि कवि वेरलेन ने भी जो कविता में गीत और सहजता का हिमायती है, अपनी पुस्तक "आर्ट पोइटीक" का अन्त इस वाक्य से किया है : "और इसके अलावा जो कुछ भी है वह साहित्य है"

यह एक भारी गलतफहमी है कि साहित्य केवल सौन्दर्य-शास्त्र की वस्तु है। यह और भी कुछ है। इस बारे में हमें यूनानिओं के अनुभवों की ओर दृष्टि डालनी होगी। उनके अनुसार "लोगस" शब्द के अन्तर्गत बुद्धि और शब्द, दोनों आते हैं और सौन्दर्यपूर्ण अभिव्यक्ति की इच्छा सत्य को दर्शाने से अलग नहीं है। होमर, जिसने सजीव और सहज कविताऐं लिखी हैं और जिसके वृत्तान्त उसकी कल्पना के निर्देश का पूरा पालन करते चलते हैं, कई शताब्दियों तक एक उत्कृष्ट विचारक माना जाता रहा और जिसकी रचनाओं में हमें नैतिकता, मनोविज्ञान, युद्ध, नीति, और अन्य सदगुणों के वर्णन का समावेश मिलता है। प्लेटो ने भी, जिनकी रचनाऐं गद्य में हैं, अपने "संवादों" को अत्यन्त काव्यात्मक ढंग से लिखा। वैसे उनकी रचनाओं में वह तेजस्विता नहीं पाई जाती जैसी कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों में पाई जाती है। पर फिर भी उनकी रचनाऐं एक प्रभावशाली ढंग से अपने विचारों को व्यक्त करने और पाठकों में सत्य की खोज की जिज्ञासा जगाने में सफल रही हैं। उनकी रचनाओं का संबन्ध नगर, शौर्य और आत्मा से था और उन समस्याओं से जिनका निराकरण उनके समय के नागरिकों के सम्मुख था। इसके पश्चात इतिहास का निज अस्तित्व सामने आया जो महाकाव्य से भिन्न था। इसकी रचना गद्य में हुई पर इसका उद्देश्य भी सत्य की खोज था। परन्तु इसमें भी वार्तालापों को वही स्थान मिला जैसा कि होमर की रचनाओं में मिलता है। इसका भी बिना किसी व्याख्या और दस्तावेजों के मौखिक पाठ किया जाना था। सम्पूर्ण पांचवीं सदी में लेखकों में, जिन्होने विभिन्न विधाओं में लिखा, एक प्रकार की स्पर्धा देखी गई जिसका उद्देश्य एक ही विषय की सामग्री को अलग अलग विधाओं में प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करना था।

ये विषय संबन्धता के प्रजातन्त्र, विचार-विमर्श, शौर्य और शिक्षा से जो यूरोपिडीज की त्रासदियों और ऐरेस्टोफेनीज की कॉमेडियों में पाये जाते हैं। ये ही विषय हमें थ्युसिडाइडीज की इतिहास पुस्तकों और प्लेटो के "डाइलोग्ज़" में भी देखने को मिलते हैं। इस प्रकार ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक जो कुछ भी लिखा गया वह साहित्य था।

इसके पश्चात विभाजन प्रारम्भ हुआ और विशिष्टीकरण विकसित होने लगा। साहित्य एक साधारण जन की वस्तु न रहकर एक पांडित्यपूर्ण क्रिया हो गई। फिर भी साहित्य का महत्व बना रहा।

आज जब साहित्य के विषय में इतने भेद और मत हैं तो भी क्या इस बात से कोई इंकार कर सकता है कि साहित्य का उद्देश्य किसी एक विषय की अभिव्यक्ति ही है? चाहे यह कोई विचार हो या जीवन अथवा समाज के विषय में कोई धारणा या अनुभूति, या गतिशील काल या प्रेम के विषय में कोई कल्पना।

यह स्पष्ट है कि साहित्य का बाह्य रूप और रचना-कौशल उसे ऊपर वर्णित दो प्रकार के लेखन से अलग करता है पर जो प्रभावी शक्ति इसके द्वारा साहित्य में आ जाती है वह उसे मानवीय मूल्यों से जोड़ देती है। उसी प्रकार विशेषज्ञों द्वारा लिखित इतिहास के समान हर उपन्यास एक विशेष काल से संबन्धित रहता है और उस काल के दबावों और आकांक्षाओं को प्रस्तुत करता है। उसमें भी विषय-वस्तु के साथ एक ऐतिहासिक दृष्टि होती है। उसी प्रकार एक ही विषय पर लिखे गये साहित्यिक निबंध और साधारण लेख को विचारों की गहनता के आधार पर ही अलग किया जा सकता है। यही अन्त-र्वस्तु साहित्य का आधार रही है। साहित्य का जो बाह्य स्वरूप है वह केवल अर्थ को सुस्पष्ट करने के लिये है। इस कारण साहित्य को केवल उसके बाह्य रूप से आँकना एक निरी भ्रान्तिपूर्ण धारणा होगी। यह भ्रान्ति साहित्य की न होकर हमारी ही है। हर व्यक्ति जानता है कि सब बड़े और मान्य लेखकों ने उसी प्रकार लिखा है जिस प्रकार यूनानी लेखक लिखा करते थे। वे लिखते थे जनसमुदाय के लिये, एक दृढ़ ढंग से, एक तत्त्व-ज्ञान, एक अनुभव, एक विचार को अभिव्यक्त करने के लिये। क्लाउडेल (Claudel) और माउरियेक (Mauriac) ने कभी कोई दर्शन की पुस्तक नहीं लिखी परन्तु उन्होंने अपनी कृतियों में एक दर्शन की अभिव्यक्ति की है और उस समय के समकालीन लेखक भी ऐसा ही करते दिखते हैं। इस प्रकार हर लेखक एक नई साहित्यिक विधा को जन्म देकर अपनी छाप छोड़ सकता है। दर्शन और साहित्य के

बींच जो अन्तराल है उसे निबन्ध पूरा करता है। कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी ऐसा ही करते हैं और हाल के माने हुऐ इतिहासकारों ने भी ऐसी ही रचनाऐं लिखना प्रारम्भ कर दिया है जो ज्यादा से ज्यादा व्यक्तियों को रुचिकर लग सके। वैसे ही स्नायु-विशेषज्ञ और नक्षत्र-भौतिकी के वैज्ञानिक भी अपनी इच्छानुसार साहित्य और विज्ञान का एक रुचिकर समिश्रण प्रस्तुत कर सकते हैं। वैसे इस क्षेत्र में भौतिक–वैज्ञानिकों ने काफी नाम अर्जित कर लिया है।

परन्तु जो सब से अधिक चिन्ता का विषय है वह है साहित्यकार का अपने क्षेत्र को स्वयं ही धीरे धीरे सीमित कर लेना। बाहर के लोग तो यह चाहते ही थे, परन्तु साहित्यकारों ने इसे खुशी से स्वोकार कर लिया। यह तथ्य हमें साहित्य के इतिहास के अध्ययन से पता चल सकता है। आज शास्त्रीय पुस्तिकाऐं भी साहित्य की उपेक्षा करती दीखती हैं। साहित्य की परिष्कृत रचनाऐं और कृतियां भी जो प्राचीन साहित्य से संबन्धित हैं और जिनकी आधुनिक मीडिया से कोई स्पर्धा नहीं हो सकती, व्यापक रूप से लेखन-कला का इतिहास बनती जा रही हैं, न कि विचारों का इतिहास। वैसे ये रचनाऐं अपने में बहुत महत्व रखती हैं और विचारकों द्वारा लिखी गयी हैं। ऐ. लेस्को द्वारा लिखित ग्रीक साहित्य का इतिहास जो वियना में 1957 में प्रकाशित हुआ था काफी स्थान विचारों के इतिवृत्त को देता है। परन्तु नया केम्ब्रिज ग्रीक साहित्य का इतिहास, जो इसी साल प्रकाशित हुआ है, शैली और अभिव्यक्ति की विभिन्न रीतिओं पर ज्यादा बल देता है। ऐसी कृतियों में जो इस नये ढंग से प्रभावित हैं ऐसे विषयों की विवेचना की गयी हैं जैसे, "प्लेटो, एक साहित्यिक लेखक," "प्लेटो के डाइलोग्ज़ की कला", पर उसके सैद्धान्तिक विचार, शरीर और आत्मा के बीच द्वन्द, और यहां तक कि उसकी एक न्याय-प्रिय नागरिक की परिभाषा, सब अछूते रह जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि जो वैचारिक सामग्री है उसे जानने के लिये पुस्तक का सहारा लेकर अथवा उस पर लिखित टीकाओं को पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को समझने की अभिलाषा जो लेखक को लिखने के लिये प्रेरित करती है, दूसरे क्षेत्र की वस्तु बन जाती है। आज के युग का पाठालोचन इसी पद्धति का अनुसरण है। आज साहित्य का विशेषज्ञ वही है जो सहित्य के बाह्यरूप का विशेषज्ञ है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में शब्द को समझने के लिये जो थोड़ा बहुत ध्यान बाह्यरूप को दिया जाता था वह अब अत्यन्त महत्वपूर्ण बन गया है और इस एकमात्र अंग पर जोर देने के कारण सारे अध्ययनों में एक संकट

की स्थिति पैदा हो गयी है। इसका प्रभाव सारे साहित्यिक अनुसंधान पर पड़े बिना नहीं रह सका।

वास्तव में, साहित्यिक अध्ययनों की लोकप्रियता में जो कमी आई उसका संभवतः कारण उसके सच्चे स्वरूप को समझने में कुछ गलतफहमियां हैं। कुछ हद तक इनका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। परन्तु चिन्ता का विषय यह है कि इसकी प्रतिक्रिया शैक्षणिक संस्थानों में भी पहुंच गयी है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव विश्वविद्यालयों में देखा जा सकता है।

उदाहरण के तौर पर फ्रांस में हुआ यह परिवर्तन बड़ा आश्चर्यजनक है। कुछ समय पहले फ्रांस में विज्ञान, चिकित्सा, विधि और "लैटर्स" संकायों में भेद किया जा सकता था। "लैटर्स संकाय में इतिहास, दर्शन और भाषाएं, जो साहित्य का अनिवार्य अंग हैं, सम्मलित की जाती थी और ये सारे अध्ययन साहित्य, या लैटर्स, के अन्तर्गत समझे जाते थे। इसी कारण इनको विज्ञान से अलग रखा जाता था। साधरणतः यही रिवाज़ अन्य देशों में भी प्रचलित था। वैसे इन संकायों के नाम एक देश से दूसरे देश में भिन्न थे। फिर भी इन सब अध्ययनों को उनके उद्गम को देखते हुऐ एक ही समूह में रखा गया। जर्मनी में आज इनको दर्शन संकाय के अन्तर्गत रखा जाता है। इंग्लैण्ड में जो इन क्षेत्रों में अध्ययन करता है उसे "मास्टर आफ आर्टस्" की उपाधि मिलती है। कुछ देशों में ये अध्ययन "ह्यूमेनिटीज़" संकाय के अन्तर्गत आते हैं। नामों में भिन्नता का कारण विषय की सूक्षमता पर अधिक ध्यान न देना है। परन्तु इन सबको एक ही नाम के अन्तर्गत रखना इस बात को बतलाता है कि इन सब विषयों में एक आपसी संबन्ध है जो इन्हें विज्ञान से अलग करता है।

परन्तु थोड़े ही समय बाद, खासकर फ्रांस में इन संकायों को "फैकल्टी आफ लेटर्स एण्ड ह्यूमेनिटीज़" कहा जाने लगा और बाद में इसका लघु नाम हो गया "ह्यूमेनिटीज़" (और कुछ स्थानों में इसे "फेकल्टी ऑफ़ सोश्यल साइंसेज़" नाम से भी संबोधित किया गया)। यह उन नई-नई प्रणालियों के बढ़ते प्रभाव को बतलाता है जो विज्ञान के निकट हैं। इन सब से विज्ञान का बढ़ता प्रभाव साफ नजर आता है। जाहिर है कि साहित्य या "लेटर्स" जो कभी अन्य अध्ययनों का केन्द्रबिन्दु था, उसकी रक्षा का प्रयास नहीं किया गया और सारे अध्ययन विज्ञान के अन्दर ही समाने लगे। यह विचित्र बात है कि वही युग जो अन्तर-अध्ययनों का हिमायती है और इस पर गर्व करता

है, साहित्य के पद को अवनत कर, वैचारिक सहयोग की भावना को ठेस पहुंचा रहा है।

इस परिवर्तन का पहला शिकार हुआ "लैटर्स" जो और कुछ नहीं केवल साहित्य का ही लघु रूप है।

वैसे फ्रांस में फेकल्टी ऑफ़ लैटर्स का अस्तित्व बना रहा और उसमें अन्य अध्ययनों का, जिसका मैंने ऊपर ज़िक्र किया है, समावेश बना रहा। परन्तु "लैटर्स" शब्द का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग होने लगा जिसका उपयोग केवल साहित्य के इतिहास, विशेषकर फ्रैन्च साहित्य के इतिहास को दर्शाने के लिये किया जाने लगा। इस प्रकार के अध्ययन को "शुद्ध साहित्य" का भी नाम दिया जाने लगा। इस नाम के संबोधन से साहित्य की गरिमा बढ़नी चाहिये थी, पर हुआ इसका उलटा। इस नाम ने साहित्य की स्थिति को और भी निर्बल कर दिया। हुआ यह कि साहित्य को अमिश्रित शुद्ध मदिरा की तरह एक प्रभावशाली वस्तु न मानकर केवल एक तत्त्वहीन वस्तु समझा जाने लगा जिसमें अपने चारों ओर होने वाली घटनाओं को प्रभावित करने की कोई शक्ति विद्यमान नहीं है।

वास्तव में व्यापक साहित्यिक अध्ययनों के अन्तर्गत साहित्य की लोकप्रियता में निरन्तर कमी आ रही है। इसका पता पिछले दस सालों में विश्वविद्यालयों में किन किन अध्ययनों को हटाया गया और किन किन को स्थापित किया गया, इससे लग सकता है। इसमें राजनैतिक दबाव का प्रश्न नहीं है और यह जानकारी विस्मित करने वाली है। इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि फ्रांस के स्कूलों में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा के लिये लेटिन की शिक्षा अनिवार्य न रहकर वैकल्पिक हो गई है। और आश्चर्य की बात यह है कि इस विषय का विकल्प अर्थशास्त्र रखा गया। हर सरकार ने, चाहे वह किसी भी राजनैतिक पार्टी की हो, और हर शिक्षक-परिषद ने, शुद्ध साहित्य का विरोध किया है। जहां तक मुझे पता है यही स्थिति फ्रांस के अतिरिक्त करीब करीब विश्व के अन्य देशों में भी मिलेगी चाहे वह यूरोप में हो या अन्यत्र।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं पर सब का आधार शुद्ध साहित्य के बारे में फैली हुई अनेक भ्रान्तियां हैं।

मैं यहाँ वैज्ञानिक विषयों की प्रतिष्ठा के बारे में कुछ नहीं कहूंगी क्योंकि इनकी आश्चर्यजनक प्रगति स्वंसिद्ध है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि साहित्य का विलोप हो जाय। हमें यह समझना होगा कि साहित्य में भी जो

बौद्धिक विषय वस्तु है उसका अपना विशिष्ट स्थान है। हमारी गलतफैहमी का कारण साहित्य को केवल बाह्य रूप और संरचना की वस्तु समझकर, उसके रूप को ही अनुसंधान का विषय बनाना है। यह समझना कि साहित्य का विचारों से कोई संबन्ध नहीं है और उसका नवीनीकरण संभव नहीं है, बड़ी भारी भूल है। इसके अतिरिक्त यह भी मानना कि साहित्य के विद्यार्थियों को सरकारी और अन्य सेवाओं में स्थान मिलने की संभावनाएं कम हैं, त्रुटिपूर्ण है।

अगर हम यह मानते हैं कि साहित्यिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य रूप विधान से है तो यह केवल कुछ विशेषज्ञों के मतलब की ही वस्तु रह जाती है। इसके विपरीत अगर हम यह समझते हैं कि रूप के अतिरिक्त इसमें और भी कुछ है, कि इसका उद्देश्य विचारों के इतिहास को भी दर्शाना है और शिक्षा, तर्क और मिथक का ज्ञान प्राप्त कराकर चिन्तन शक्ति को बढ़ावा देना है तो हमारे सामने अनेक प्रकार की नौकरियों और सेवाओं के दरवाजे खुल जाते हैं, जैसे प्रशासनिक सेवा, कम्पनी मैनेजमेन्ट, पत्रकारिता, राजनीति और विभिन्न प्रकार की कला और सांस्कृतिक सेवाएं। कुछ परिश्रम द्वारा साहित्य के विद्यार्थी इनमें विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सकते हैं न केवल अपने, पर सबके लाभ के लिये। माना कि आज साहित्यिक अध्ययन उपार्जन के अधिक अवसर नहीं प्रदान करता, पर इसका कारण है अध्ययन को गलत ढंग से आयोजित करना।

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि "साहित्य" के हिमायती ही इस क्षति के लिये जिम्मेदार हैं और यह क्षति उनकी एक भारी तात्विक भूल के कारण हुई है।

इस भूल का कारण विज्ञान की प्रगति के अतिरिक्त मानविकी अध्ययनों (Humanities) में भी नये नये प्रयोगों का आना है। इस परिवर्तन से शुद्ध साहित्यिक अध्ययन की दिशा में भारी बदलाव आ गया है। अब मूल-पाठ का विश्लेषण कर नये नये तरीकों का सहारा लिया जाने लगा और ऐसे ऐसे अर्थों को निकाला जाने लगा जिसके बारे में लेखक ने कभी सोचा भी न था। अब साहित्य में मनो विश्लेषिक पद्धति के इस्तमाल ने लेखक की अवचेतना को भी चकित कर दिया। यह तरीके अनेक संभावनाओं वाले और आकर्षक लगे पर इनकी उपयोगिता यहीं तक सीमित रही कि इनके द्वारा साहित्य एक गोपनीय वस्तु बन कर रह गया जिसके रहस्य को प्रकट करना ही एक उद्देश्य बन गया। इसी प्रकार मानव-विज्ञान (Anthropology) द्वारा मूल-पाठ में यह

पता चलानें का प्रयत्न किया गया कि जो समाज हमसे भिन्न हैं उसकी मानसिक दशा ही भिन्न प्रकार की है। इस प्रकार मूल-पाठ एक प्रकार का दस्तावेज़ बन गया जिससे स्वतः ही हमें समाज के विकास का ज्ञान हो सकता है। वैसे ही भाषा-विज्ञान के नए तरीके "स्ट्रकचरलिज्म", "सीमीग्रोलोजी" ग्रौर "सोमीग्रोटिक्स" ने इन पाठों में ऐसे चिन्हों का पता चलाया जिनसे लेखक बिल्कुल ग्रनिभिज्ञ था ग्रौर जो उसके लेखन के ढंग को ग्रौर उसके सामाजिक संबन्धों को नियंत्रित करने वाले समझे गये। इस तरह साहित्य एक प्रकार की गोपनीय–पद्धति बन गया जिसकी कुंजी साहित्यकार के पास नहीं थी।

संभवतः मैं बात को ग्रतिरंजित कर रही हूं ग्रौर विकृत भी। परन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि जब हम इन नये तरीकों का इस्तमाल साहित्य के मूल–पाठ पर करते हैं तो हमारा ध्यान लेखक के विचारों पर न जाकर कहीं ग्रौर केन्द्रित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इन सब नए तरीकों का प्रयोजन न केवल साहित्यकार के "दर्शन" की पर उस युग के दर्शन की भी पूर्ण ग्रवहेलना करना है।

इन तरीकों से जो खतरा है वह प्रत्यक्ष है। वैसे ये तरीके काफी दिलचस्प हैं पर ये मूल-पाठ के सीधे ग्रध्ययन का स्थान नहीं ले सकते। यह सत्य है कि पाठ में भाषा, मनोग्रन्थियों ग्रौर सामाजिक दबाव के कारण ग्रचेतन तत्त्व विद्यमान हैं, पर कोई यह नहीं कह सकता कि उसमें कोई मौलिक विचार निहित नहीं है। यही कारण है कि एक ही प्रकार के मानसिक दबाव का प्रभाव भिन्न भिन्न लेखकों पर भिन्न भिन्न ढंग से पड़ता है।

परन्तु ये नए तरीके साहित्य के ग्रध्ययन के लिये चिन्ताजनक ग्रौर हानिकारक हैं। सर्वप्रथम इनके सिद्धान्त ही सदेहास्पद हैं। क्योंकि मूल-पाठ में एक विषय-वस्तु होती है जिसे नजरन्दाज़ नहीं किया जा सकता। ग्रौर ग्रगर हम ऐसा करते हैं तो जो लिखा गया है उसकी कोई प्रतिष्ठा नहीं रहती ग्रौर वह एक निकम्मी वस्तु रह जाता है। यह सत्य है कि लेखक पर दबाव पड़ते हैं जिन्हें वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं समझ सकता, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उसे एक रोगी समझा जाय ग्रौर उसकी कृति को उस रोग की प्रतिक्रिया।

इस गलतफैहमी का कारण समझ जा सकता है। ग्राज ग्रधिकांश ग्रध्ययन वैयक्तिक न होकर समाजमूलक हो गया है ग्रौर ग्रध्ययन के इन नऐ तरीकों ने ग्रपनी नवीनता से सारे विश्व को चौंधिया दिया है। इसके परिणाम

स्वरूप यह धारणा सर्वत्र फैल सी गयी है कि पारम्परिक साहित्यिक अध्ययन बेमानी है और कलाकृतियों की भांति यह केवल सुन्दरता की ही वस्तु है। इससे एक और गलतफैहमी उत्पन्न हुई है कि साहित्य का महत्व केवल अनुसंधान और शोध तक ही सीमित है। खासकर अदीक्षितों में यह धारणा काफी फैल गयी है।

साहित्य का अध्ययन केवल उसके स्वरूप का अध्ययन नहीं है और न इसमें गतिशीलता की कमी है। न यह वह क्षेत्र है जहां विषय की गहनता वैज्ञानिक अध्ययनों से कम है, खासकर मानव साहित्य में जिसे "ह्यूमेनिटीज़" कहा जाता है।

एक मूल-पाठ तब ही ठीक प्रकार समझ में आता है जब एक लेखक की दूसरी लेखक-समूह से, या एक लेखक-समूह की दूसरे लेखक-समूह से तुलना की जाय और यह जानने का प्रयास किया जाय कि दोनों में कौनसी बातों को महत्त्वपूर्ण समझा गया है और कौनसी बातें नगण्य समझी गयी हैं। किन बातों को विस्तार पूर्वक कहा गया है और किसके पक्ष और विपक्ष में विचार प्रकट किये गये हैं। वैसे ही हम मूल-पाठ को एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण द्वारा हो समझ सकते हैं। साहित्यिक विधाओं के उद्भव और शब्दों और बिम्बों के विकास का अध्ययन कर के ही हम रचना के स्त्रोतों का पता लगा सकते हैं और उसमें वर्णित विषय को ठीक प्रकार समझ सकते हैं। इसी प्रकार एक काल के रीति-रिवाजों और लेखक के चारित्रिक गुणों को जानकर ही हम उसकी कृति की विशेषताओं और जो रूप उस कृति ने लिया है उसे ठीक ढंग से आंक सकते हैं। साहित्यिक अनुसंधान के क्षेत्र में विषय-वस्तु की गहनता उतनी ही बढ़ी है जितनी की अभिव्यक्ति का ढंग। यह केवल रूप-विधान तक ही सीमित नहीं है।

मैं यहां दो उदाहरण दूंगी जो बिल्कुल प्रतिकूल अवस्थाओं से लिये गये हैं।

पहला मेरे अपने विषय से सम्बन्धित है और जिसका मैंने विशेष अध्ययन किया है। जैसी साधारण धारणा है कि ग्रीक साहित्य का इतिहास अपरिवर्ती है और इसका एक ही प्रकार का अध्ययन कई शताब्दियों से होता आ रहा है। क्योंकि मैंने क्लासिकी साहित्य का विशेष अध्ययन किया है, खासकर सबसे उत्कृष्ट रचनाओं और रचनाकारों का, तो यह अनुमान लगना स्वाभाविक है कि मैं इन पर पारम्परिक ढंग से विचार करुँगी। परन्तु मैं आसानी से बतला

सकती हूं कि इस क्षेत्र में सब कुछ बदल गया है। जब मैं उस प्रगति का जायज़ा लेती हूं जो मेरे युवा काल के बाद इस क्षेत्र में हुई तो मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। इस शताब्दी के प्रारम्भ में क्राइसेट (Croiset) बन्धुओं द्वारा लिखित "ग्रीक सहित्य का इतिहास" अपने समय की एक उत्कृष्ट रचना है,

परन्तु आज इसका कोई महत्व नहीं रहा, न केवल इसलिये कि इसकी वर्णन शैली कुछ प्रशंसात्मक ढंग की है और शताब्दी के अन्तिम चरण में प्रचलित लेखन शैली में लिखी गयी है, पर इसलिये कि अब वास्तविक आंकड़ों से लेकर अनुसंधान के सारे साधनों और इसके साथ जिज्ञासा के क्षेत्र में भी भारी परिवर्तन आ गया है।

यह बात सुस्पष्ट है कि आज अज्ञात गूढ़ लिपियों के सही ढंग से पढ़ लेने के कारण ग्रीक भाषा का काल अनेक शताब्दियों पीछे चला गया है। जो पाण्डुलिपि (पैपीरस) लेख आज हमें प्राप्त हो रहे हैं उनकी संख्या चौकानें वाली है। नयाग्रीक साहित्य का इतिहास, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है, इन गूढ़ लिपियों का पूर्णरूप से इस्तमाल कर रहा है जिससे नये नये लेखकों, खास कर लिरिक कवियों का जन्म हो रहा है। इन पाण्डुलिपि (पैपिरस) लेखों और नये शिलालेखों के प्राप्त होने से लेखकों के काल निर्धारण का कार्य नये सिरे से प्रारम्भ हुआ है। उदाहरण के तोर पर ऐसकिलस का एक नाटक जो बहुत प्राचीन समझा जाता था, वास्तव में इतना प्राचीन नहीं है। आज लेखकों के बारे में क्या कुछ हमारे पास नहीं है? हर लेखक के आलोचनात्मक संस्करण और सूचियाँ हमारे पास हैं। आज व्युत्पत्ति-विषयक कोष भी हमें उपलब्ध हैं जिन्हें एक प्रकार का शब्दों का लघु इतिहास कह सकते हैं। यही कारण है कि आज काफी संख्या में शब्द अथवा शब्दों के समूह पर शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं जिनका उद्देश्य यह बतलाना है कि शब्दों के अर्थ और उनकी आवृत्ति ऐतिहासिक कारणों पर निर्भर है। ऐसे शोध-प्रबन्धों का उद्देश्य यह जानना भी है कि किस प्रकार हर बड़े लेखक ने शब्दों का प्रयोग किया है जिससे कि उसके मौलिक विचारों की अभिव्यक्ति ठीक प्रकार से हो सकी है। इन सब साधनों के आधार पर ही हम मूल पाठ का सही विश्लेषण और लेखक की नवीन प्रक्रिया का अध्ययन कर सकते हैं। आज ऐसा ही किया जा रहा है जिससे कई नई बातों का ज्ञान हो रहा है। आज जो इतिहासकार थ्युसीडाइडीज़ की ग्रन्थ-सूची से परिचित है वह जानता है कि प्रतिवर्ष उसकी रचनाओं की तिथि का निर्धारण अग्रिम होता जा रहा है। इससे अनुसंधान के नये तरीकों और नई विचारधाराओं के आगमन का पता चलता है। इसके

अतिरिक्त नये अध्ययनों के आगमन से कृतियों की नई व्याख्या संभव हो सकी है। मानवविज्ञान (Anthropology) ने भी अनुसंधान के नये तरीकों को जन्म दिया है और आज कोई भी अनुसंधान इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। साहित्य का अध्ययन आज दो युगों, एक विगत और दूसरा विद्यमान, के बीच हुआ वार्तालाप ही कहा जायगा जो आवृत्तिमूलक न हो कर नित नये विचारों को जन्म देता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साहित्यिक अध्ययन केवल कृति की शैली और रचनासौन्दर्य को दर्शानें तक ही सीमित नहीं है और न यह व्यक्तिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति ही है। साहित्यिक अध्ययन इतिहास से उतना ही संबन्धित है जितना कि दर्शन से, और यह दोनों ही उसमें प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। जिस प्रकार साहित्य, इतिहास और दर्शन से पृथक नहीं हो सकता, उसी प्रकार इतिहास और दर्शन भी साहित्यिक लेखकों की रचानाओं से पृथक नहीं हो सकते जिनका उनके विकास में काफी योगदान रहा है।

मैं यहाँ एक विचार अलग से प्रस्तुत करना चाहूँगी जो संभवतः मेरे अपने विषय की हिमायत लेना समझा जा सकता है। लोगों को यह कुछ विचित्र सा लगेगा कि आज जब अधिक से अधिक महत्त्व समाज, सामाजिक विषयों, और संस्थाओं को दिया जा रहा है तो मैं उस विचारों के इतिहास का निर्माण कर रही हूं जो अवैयक्तिक न होकर मुख्य लेखकों के खुद के विचारों पर आधारित हैं। मैं यहां इसका उत्तर देना आवश्यक समझती हूँ क्योंकि यह आलोचना साहित्य की मूल भावना से संबन्धित है जो इस विचार-विमर्श का मुख्य मुद्दा है। ग्रीक साहित्य से अच्छा परिचय होने के नाते मैं अपने को भाग्यशाली समझती हूं क्योंकि ग्रीस, जहाँ तक लेखकों का सवाल है, काफी संपन्न है और उसके लेखक ही उसके प्रमाणिक दस्तावेज़ हैं। ग्रीस में जो वैचारिक विकास हुआ उसका कारण लेखकों के बीच निरन्तर चलता विचार-विमर्ष था और वे सब इसके लिये धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस विचार-विमर्ष को कायम रखा। यह स्थिति सारे साहित्य पर लागू होती है जिसे समाज प्रभावित करता है और जो स्वयं भी लखकों द्वारा प्रभावित होता है। मेरा इसमें दृढ़ विश्वास है। मैं इस पर अधिक कुछ नहीं कहूंगी क्योंकि, जैसा विदित है, यह विचार आधुनिक विचारधारा के बिल्कुल विरुद्ध है और अप्रमाण्य है।

मैं इस बात को पूर्णतः स्वीकार करती हूं कि विचारों का इतिहास चाहे उसके रूप-विधान पर कितना भी ध्यान दिया गया हो, लेखन कला के अर्न्तगत

नहीं आता। पर यह समझना होगा कि साहित्यिक अध्ययन अपने पारम्परिक रूप में शब्दों के अर्थ की खोज है जो निरन्तर चलती रहती है। इस कारण शब्दों पर आधारित मूल पाठ की व्याख्या कर, साहित्यिक अध्ययन इतिहास का रूप ग्रहण कर लेता है और चिन्तन का इतिहास बन जाता है।

और इस कारण कि मेरे ऊपर यह आरोप न लगाया जाय कि मैं साहित्य में विचारों को अधिक प्राधान्य दे रही हूँ और पारम्परिक लेखकों और उनकी रचनाओं से बंधी हुई हूँ, मैं अपने दूसरे उदाहरण के रूप में एक ऐसे क्षेत्र को प्रस्तुत कर रही हूँ जो सब से अधिक बाह्यरूप से संबन्धित और अलंकारिक है। यह है "रिटॉरिक"। यह एक बहुत पुराना शब्द है और अत्यन्त पुराने अध्ययन का स्मरण दिलाता है जब विश्वविद्यालयों में "ग्रीक वक्तृत्वकला" की पीठ हुआ करती थी। पर आज पिछले दशकों में "रिटॉरिक" का जो विकास अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हुआ है, उससे उसका अर्थ काफी परिवर्तित हो गया है। आज इसके अन्तर्गत विषय-वस्तु की गहनता को भी लिया जाता है। इसका क्षेत्र अब काफी व्यापक हो गया है। इसे अब हम एक सिद्धान्त के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जो न केवल एक युग के, पर उन सब क्षेत्रों के सौन्दर्य-बोध को दर्शाता है जो एक ही दर्शन से प्रभावित हैं और जिसके अन्तर्गत आते हैं: चित्रकला, वास्तुशिल्प और संगीत। इस नये क्षेत्र के अन्तर-अध्ययनों के व्यापार को सब ही महत्व देंगे। पर यह ध्यान देने योग्य है कि "रिटॉरिक" में जो सौन्दर्य-बोध है वह उन मूल-पाठों में मिलता है जो दुर्लभ हैं। और यहाँ भी हम उन पाठों के अध्ययन और उनकी व्याख्या से "रिटॉरिक" विषय के भी ऐतिहासिक आधार को देख सकते हैं। "रिटॉरिक" में जो प्रभावशाली अभिव्यक्ति है वह केलव उसकी विषय-वस्तु को उजागर करती है। "रिटॉरिक" का जब ग्रीस में जन्म हुआ तब उसका उद्देश्य न केवल प्रभावशाली और सुन्दर ढंग से बोलने की शिक्षा देना पर भावनाओं के साथ तर्क को भी ठीक प्रकार प्रतिपादित करना था। "रिटॉरिक" का आधुनिक अध्ययन साहित्यिक कृतियों में इसी प्रभाव की निष्पक्ष ऐतिहासिक खोज करना है। चाहे ऐसे अध्ययन को निम्न कोटि का ही क्यों न माना जाय। फिर भी जो इस ओर अदीक्षित है "रिटॉरिक" को संदेह की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि साहित्यिक शब्दावली में स्पष्टता नहीं होती और अनभिज्ञता ही गलतफैहमी को जन्म देती है।

यह स्पष्ट है कि साहित्यिक शोध को रूप और वाह्य-संरचना पर ही आधारित करना और उसके नवीनीकरण पर संदेह करना भारी भूल होगी। जो दो उदाहरण यहां दिये गये हैं उनसे यह बात स्पष्ट है। वास्तव में

साहित्यिक शोध का उद्देश्य कृति के अर्थ और उसकी सार्थकता को जानने का सतत प्रसास है। यह उसका तात्कालिक उद्देश्य है। पर इन सब के पीछे जो वास्तविक उद्देश्य है वह है मनुष्य की मूलभूत समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करना। मनुष्य लिखता क्यों है ? विचार किस प्रकार विकसित होते हैं ? लेखक के पास कितनी स्वतंत्रता है, अपनी परिस्थितिओं, अपने भूत और अपने मनोभावों के बारे में ? संक्षेप में हर शब्द के अन्दर एक ही प्रश्न निहित है: मनुष्य क्या है ? और यह प्रश्न मिलता है मनुष्य की सब से मौलिक उपलब्धि साहित्य में। संसार में अनेक प्रकार के समाज हैं। मधुमक्खियों और चिम्पैन्जियों का भी समाज है और उनके अपने संदेश देने के ढंग हैं, पर साहित्य का निर्माण केवल मनुष्य द्वारा ही होता है।

आज जो प्रवृति विद्यमान है उसके गंभीर परिणामों की कल्पना की जा सकती है। यह प्रवृति उच्च शिक्षा के क्षेत्र में काफी चिन्ता का विषय बनी हुई है जो हमें मानव-आधारित चिन्तन से दूर करती जा रही है। इस क्षेत्र में एक प्रभावशाली प्रतिक्रिया की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति विश्वविद्यालयों में नए विभागों की स्थापना और अनुदान से कहीं अधिक नये लक्ष्यों के निर्धारण से की जा सकती है। यह प्रवृत्ति युवाओं की शिक्षा के क्षेत्र में कम चिन्ताजनक नहीं है जहाँ विद्यार्थियों को मूल पाठ से अधिक से अधिक अनिभिज्ञ रखा जाता है। नई परीक्षा-प्रणाली और नई पाठय-पस्तुकों के निर्माण से जिसमें समाचार पत्रों के लेख और क्लासिकी लेखकों की पुस्तक के अंशों का समिश्रण रहता है, ज्ञान की गूढ़ता में कमी आ रही है। पहले मूल क्लासिकी पुस्तकों का अध्ययन ही विचारों का आधार होता था जो मानवीय गुणों से हमें परिचित कराता था। ये ही हमें नैतिक और नागरिक शिक्षा प्रदान करते थे और हमारी आलोचनात्मक शक्ति और ज्ञान पिपासा को जगाते थे। आज हम इन्हीं का अध्ययन कर और इन्हें ही ठीक प्रकार से समझकर आज की वैज्ञानिक प्रगति को मनुष्य के भले के लिये उपयोग में ला सकते हैं और उसे विनाश से बचा सकते हैं। क्या हर युग और हर देश में साहित्य के अध्ययन का यही लक्ष्य नहीं रहा है ? क्या साहित्य से हर युग और हर देश में यही आकांक्षा नहीं रखी गई है ?

परन्तु इस विषय में मैं और अधिक तर्क नहीं प्रस्तुत करूंगी। यहाँ और कुछ कहना विषय से भटक जाना ही होगा। मैंने यहाँ अपना ध्यान उन्हीं स्थलों पर केन्द्रित किया है जो अनुसंधान से संबन्धित हैं और एक प्रकार से वर्गीकरण (Methodology) या ज्ञान-मीमांसा (Epistemology) से। समीक्षा

पत्रिका "डायोजिनीज़" विचारों और अन्तर-अध्ययनों को प्रोत्साहित करती है जिससे नई दिशाओं का ज्ञान होता है और वैचारिक मिलन का प्रस्तुतिकरण। मैं इस वैचारिक मिलन का अनुमोदन करती हूं। पर मैं ने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि वह स्थान जहां से सब रास्ते प्रारम्भ होते हैं वह साहित्य ही है और हमें यहीं लौटकर आना है। यह सत्य है कि एक युग को उसके लेखकों द्वारा ही जाना जा सकता है। पर युग का महत्व इस पर निर्भर है कि वह क्या कुछ देता और कहता है और जो छोड़ जाता है उसका नवीनीकरण होता रहता है। अगर सब परिस्थितियां अनुकूल हों तो अन्तर-अध्ययनों के बीच सारे विवाह अच्छे और फलदायक होते हैं। परन्तु विवाह की सफलता वहीं संभव है जहां निजका अस्तित्व और उसकी प्रमाणिकता विद्यमान रहती है। आज साहित्य के अस्तित्व के खो जाने का खतरा हमारे सम्मुख है, केवल हमारी लापरवाही के कारण।

जैक्विलीन रोमिली
(पेरिस)

समाजशास्त्र का संकट

गिग्रोवन्नी बूसिनो*

जिस विषय की हम यहां संक्षेप में समीक्षा करने जा रहे हैं वह वास्तव में अत्यन्त जटिल है और ज्ञान मीमांसा तथा अर्थमीमांसा की दृष्टि से तो उसमें अनेक भटकाव तथा उलझनें भरी पड़ी हैं। ऐसी उलझनों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि कुछ समाजशास्त्रीय सत्यों का स्मरण कर लिया जाए तथा कुछ आधारभूत सीमाओं में स्वयं को बांध लिया जाए।

इस तथ्य से शायद ही किसी को ऐतराज हो कि यूरोपीय औद्योगिक समाजों की बौद्धिक पृष्ठभूमि में अपने अभ्युदय के प्रारम्भ से ही समाजशास्त्र स्वयं को एक मौलिक तथा निरपेक्ष विज्ञान के रूप में घोषित करता रहा है और मानव समाजों की अपने ढंग से व्याख्या करने का अपना अधिकार सुरक्षित मानता रहा है। उसका यह भी आग्रह रहा है कि ये समाज अपने आचार व्यवहार में भी इन्हीं अन्वेषित विचार पद्धतियों की अनुपालना करें। संक्षेप में, अपने प्रारम्भिक काल से ही समाजशास्त्र अपनी इस निश्चयात्मकता की घोषणा करता रहा है कि अनेकानेक विभेदों तथा विभिन्नताओं के बावजूद सामाजिक विश्व की इन विचार श्रेणियों में सम्पूर्ण व्याख्या सम्भव है और समाज के अध्ययन में भी उन्हीं बौद्धिक प्रारूपों का प्रयोग किया जा सकता है जिनका विज्ञान में प्रयोग होता रहा है। समाजशास्त्र की यह मान्यता रही है कि विज्ञान की सार्वभौमिक एकता एक ऐसे स्वस्थ, सत्य तथा मूर्त ज्ञान का प्रारूप है जिसे सभी दशाओं में सभी के लिए प्रामाणिक स्वीकार किया जा

---

* Giovanni Busino : Sociology in Crisis; **Diogenes,** No. 135 Fall 1986, pp. 79–92.

अनुवाद : आनंद काश्यप

सकता है । इसी काल से, समाजशास्त्र ने अपना विकल्प केवल अध्ययन पद्धति के नियमों, विश्लेषण विधियों, निगमनात्मक अथवा आगमनात्मक तर्कविधियों के चयन तक अर्थात् ऐसे बौद्धिक प्रारूप तक ही सीमित रखा कि जिसकी व्यावहारिक सफलता विशुद्ध विज्ञानों के जगत में प्रमाणित हो चुकी थी ।

काफी समय तक समाजशास्त्री अपने इसी विश्वास पर दृढ़ रहे कि समस्त विज्ञान क्षेत्रों की यह मूलभूत अध्ययन पद्धतिगत एकता विशुद्ध विज्ञानों की ही भाँति उन्हें भी सामाजिक व्यापारों तथा रहस्यों का उद्घाटन करने की क्षमता प्रदान करेगी और इस प्रकार वे अपने शास्त्र की वैधता प्रमाणित कर सकेगें। इस प्रकार सभी प्रकार के अन्तर्विरोधों तथा तनावों से बचाव के साधन तथा सहज विश्वसनीयता प्राप्ति के रूप में विज्ञान भी एक नये विश्व धर्म के रूप में प्रकट होता रहा ।

विज्ञान, मूल कर्णधारों के लिए जहां एक ओर विवरण, व्याख्या तथा प्राकाल्पनाओं एवं सिद्धान्तों के सत्यापन का प्रयास था वहीं दूसरी ओर एक जीवन मूल्य तथा सत्य का एक निश्चित प्रारूप भी था ।

फरग्यूसन से कोंत, पेरेटो से दुरखीम तथा बेबर तक वैज्ञानिक समाजशास्त्र, इस धारणा या कहें तो, अस्तित्व के एक ऐसे विकल्प के रूप में प्रकट हुआ था कि जिसका उद्देश्य पारम्परिक समाजों के मंडराते संकट तथा व्यक्ति एवं समूह के स्तर पर तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के स्तर पर कमजोर पड़ती हुई धर्म की पकड़ या प्रकार्यों को सहारा दे सके ।[1] इन समाजशास्त्रियों की यह धारणा, जो सुविचारित कम तथा सहज मान्यता प्रवृत्ति के रूप में अधिक थी, इस मान्यता पर आधारित थी कि विज्ञान धर्म के विविध आयामों को पुनर्जीवन प्रदान करने तथा अधिक सक्षम बनाने में योगदान करेगा । इन समाजशास्त्रियों और विशेष रूप से पैरेटो तथा बेबर को (और एक भिन्न अर्थ में माइकेलस तथा सिमेल को भी) यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति के हितकारी प्रभावों के विषय में कोई भ्रम नहीं था फिर भी इनमें से कोई भी यह विचार नहीं कर सका कि समाजशास्त्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति अपने वैज्ञानिक स्वरूप की अपेक्षा उससे किसी पृथक मार्ग का अवलम्बन कर अधिक भलीप्रकार कर सकता है ।

इस प्रकार के वैज्ञानिक समाजशास्त्र, पद्धतिशास्त्रीय अध्ययन तथा एक निश्चित विचार योजना के अन्तर्गत किये जाने वाले सुसंगठित तथा नियत्रित अध्ययन से एक लाभ यह भी सम्भव था कि वह कम से कम तर्कबुद्धि की ऐसी

अवधारणा के प्रति पूर्ण समर्पित हो सकता था जिससे यदि सामाजिक विषय वस्तुओं का ज्ञान न भी हो तो कम से कम उन वस्तुओं का तो ज्ञान हो जो उन प्रत्ययों के विषय रूप में समझी जायें। किन्तु यह भी सम्भव न हो सका। वैज्ञानिक बौद्धिकता का उपयोग प्रत्येक समाजशास्त्री मनमाने ढंग से करता रहा। इस वैज्ञानिक तर्क बुद्धि को कभी तो कामचलाऊ नियमों के रूप में और कभी मनोवैज्ञानिक क्षमताओं के नियमों के रूप में तो कभी वस्तुओं के मूल आधार नियमों के रूप में और कभी सत्य के प्रमाण प्रस्तुत कर पाने के साधन के रूप में अवधारित किया जाता था। और केवल यहीं इति नहीं हो गई थी। उदाहरणार्थ एडोल्फ क्वेतले या फ्रेडरिक लेप्ले वैज्ञानिक तर्क बुद्धि का उपयोग एक दूसरे ही अर्थ में कर रहे थे: वह था यथार्थ (रियलिटी) के उस वजन तथा नाजुक व्यवस्था का अध्ययन करना कि जिसके कारण वर्तमान के प्रति स्वीकृति सम्भव होती है तथा परम्परा का सम्मान किया जाता है। कई अन्य समाजशास्त्रियों की दृष्टि में यह वैज्ञानिक विधि ऐसा मानक प्रदान करती थी कि जिसके द्वारा वर्तमान वस्तुस्थिति का परिमापन तथा उससे तटस्थ रह पाने के आधार सम्भव थे।

ऐसी परिस्थितियों में, समाजशास्त्र के इतिहास में समाजशास्त्रीय तर्क-बुद्धि के नियमों के स्पष्ट कर पाने में सक्षम किसी सिद्धान्त को खोज पाना एक निरर्थक प्रयास होगा। दूसरी ओर, ऐसी कई भौतिकता-परक सिद्धान्त रचनाएं हैं जो वस्तुस्थिति अथवा यथार्थ को किसी प्रागनुभविक (ए प्रायोरी) सिद्धान्त जैसे इतिहास अथवा प्रकृति के रूप में स्वीकार कर अपनी तर्कणा (रीजन) को उसके सम्मुख प्रस्तुत कर देती हैं। कोंत तथा स्पेंसर जिन्होंने की तर्कप्रधान ज्ञान (रेशनल नॉलेज) तथा आनुभविक ज्ञान (एम्पीरिकल नॉलेज) को एक दूसरे का विरोधी माना था, उन्होने भी विज्ञान विषयक अपनी सिद्धान्त रचना को इतिहास तथा प्रकृति से स्वतंत्र रूप में देखने की चेष्टा नहीं की। इन पितामहों का प्रयास भी लेकिन विशेष सराहनीय रहा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे भी पुरातनवादी अनुरक्षणात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टियों के मध्य झूलते रहे तथा नैतिकतापरक व अभिव्यजनात्मक (एक्सप्रेसिव) अपेक्षाओं तथा ज्ञानपरक (कांगनीटिव) आवश्यकता के बीच किसी एक को चुनने में सदैव झिझकते रहे और इसी प्रकार किसी देश-काल विशेष से उभारे गए निर्वचनात्मक (रिफ्लेक्सिव) संप्रत्यय तथा समाज निर्माण के लक्ष्यों के मध्य और इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था को बदल डालने की आकांक्षा तथा आधुनिकता के विशद मुखौटे का रहस्योद्घाटन करने की विशुद्ध बौद्धिक उत्सुकता के मध्य सदैव अनिर्णय की स्थिति से कभी नहीं उबर पाए।[2]

समाजशास्त्र के प्रतिष्ठित ग्रन्थों के पुनर्अध्ययन से भी मैं निरन्तर यही पाता हूं कि जर्मन, इटालियन तथा फ्रेंच विचारकों में तर्क बुद्धि (रेशनलिटी) एक दृष्टिकोण की अपेक्षा एक ऐसा विश्वास अधिक रहा है जिसके द्वारा वे सामाजिक अनुभवों को वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का आश्रय लेकर समझने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस प्रकार यही विश्वास रहा है कि सामाजिक परिवेश में जीवन के रहस्यों का क्रमिक उद्घाटन होता रहेगा। इस सत्य को क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता।

यदि हम समाजशास्त्रीय तर्कणा के अवतारों की तुलना तर्क-बुद्धिकी अवधारणा में घटित होने वाले परिवर्तनों जैसे हुस्सर्ल, ल्यूकाक्स तथा हॉर्क-हाइमर[3] द्वारा विश्लेषित परिवर्तनों से करें तो हमें अपने बौद्धिक दारिद्रय का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। जहां यूरोपीय विज्ञानों में एक सच्ची जिज्ञासा के द्वारा तर्कणा को आकस्मिकता से पृथक कर उसकी विसंगतियों का उद्घाटन लक्ष्य रहा है समाजशास्त्र अपनी अपचय (रिडक्शन) की प्रक्रिया को ही दृढ़ करता रहा है। सन् 1887 में फरडिनेंड टोनीज ने इस क्रम को भंग किया था।[4] जिमाइनशाफ्ट तथा गेसेलशाफ्ट में भेद स्थापित कर तथा गेसेलशाफ्ट को तर्क बुद्धि प्रधान आधुनिकता परक सामाजिक संगठन की संज्ञा देकर टोनीज ने उसे एक निश्चित प्रकार के सामाजिक संगठन तथा इतिहास के काल विशेष से सम्बद्ध कर दिया था। इस प्रकार समुदाय (डिमाइन शाफ्ट) को समाज (गैसेल शाफ्ट) के प्रतिकूल दर्शाकर जहां समाज को अमूर्त बौद्धिकता से जोड़ दिया गया समुदाय को विज्ञान से जोड़ने का प्रयास किया गया। येदोनों ही सम्बन्ध स्थापन भ्रम मूलक थे। यद्यपि टोनीज की यह स्पष्ट घोषणा है कि इतिहास का एक सकारात्मक अर्थ है और वह पारम्परिक समाज के औद्योगिक समाज में रूपान्तरण के समय व्यक्त होता है फिर भी वह पारम्परिक समाज, जिसमें प्रतीकात्मक तथा समूर्त मूल्य प्रधान होते हैं, के विखंडन तथा विनाश का कारण विज्ञान तथा उसकी अमूर्त अवधारणाओं को मानता है। आधुनिक समाज में सुव्यक्त, प्रकट तथा व्यक्ति की भूमिका का स्थान अभिव्यंजनाएं ग्रहण कर लेती है। जैसाकि हम सभी को ज्ञात है इस अभिधारणा का जार्ज सिमेल प्रबल पक्षधर रहा था। उसने इस शताब्दी के प्रारम्भ में पैसे को कल्पना तथा भावना विरोधी शक्ति के रूप में बुद्धि का प्रतीक स्वीकार किया था। और इसी सिमेल ने सन् 1910 में अपनी Hauptprobleme der Philosophie "नामक कृति का समापन ज्ञान के ऐसे सिद्धान्त की स्थापना से किया था जिसमें तर्कणा (रीजन) को एकदम नकार कर केवल भावना तथा संकल्प (विल), अन्तर्ज्ञान (इंट्यूशन) तथा संवेदनशीलता को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इसके पश्चात् वह समाजशास्त्र से विलग हो गया था, और इसी

कारण समाजशास्त्रियों ने सिमेल की रचनाओं का अध्ययन सन् 1950 के बाद ही प्रारम्भ किया था ।[5]

कुछ वर्षों पूर्व, सन् 1902 में, बर्नर सोम्बार्ट ने अपनी Der moderne Kapitalismus, नामक कृति में तर्क-बुद्धि (रेशनलिटी) को एक ऐसी तकनीकी विशेषता तथा ऐसी पद्धतिगत प्रक्रिया के रूप में अर्थात् ऐसे साधन के रूप में रूपांतरित (अवधारित) कर दिया था कि जिसके द्वारा लक्ष्यों तथा प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके ।[6]

आर्थिक तथा सामाजिक स्तर पर पूंजीवाद (केपिटलिज्म) इस प्रकार के समीकरण का पूर्ण वास्तवीकरण था । इसी दिशा में, किन्तु कुछ भिन्न प्रकार से, मेक्स वेबर ने पूंजीवाद को आधुनिक समाजों की सम्बन्ध रचना में घटित होने वाले योक्तिकीकरण (रेशनलाइजेशन) का एक क्रांतिकारी रूप बताया था । इसके बाद से समाजशास्त्रियों द्वारा चयनित मार्ग देकार्त, कांट, फिक्ते, हुस्सर्ल तथा विटगेंस्टाइन के मार्गों से नितान्त भिन्न हो गए थे ।

दर्शन से विलग होकर उन्होंने तर्कणा-बुद्धि को मात्र एक उपकरण (इंस्ट्रूमेन्ट) के रूप में सीमित कर दिया था और इसका उपयोग आधुनिक सामाजों के भावी ऐतिहासिक स्वरूप के निर्धारण में अर्थात् पूंजीवाद तथा उसकी उत्पत्तियों की व्याख्या में कर लिया था । इस अपचय (रिडक्शन) के परिणाम अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण हैं क्योंकि इस प्रकार वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि (रेशनलिटी) को मात्र कुछ पूर्व निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उपयोगी साधन के रूप में सीमित कर दिया गया था : एक अन्तिम ज्ञान के रूप में इस हिसाबिया ज्ञान धारा का स्वरूप मात्र उपयोगितात्मक ही है जिससे किसी और उच्च लक्ष्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती ।

साधनवाद (इंस्ट्रूमेंटलिज्म) तथा व्यावहारिकतावाद (प्रेगमेटिज्म), नामरूपवाद (नॉमीनलिज्म) तथा यथार्थवाद (रियलिज्म), विज्ञानवाद (पांजिटविज्म) तथा मार्क्सवाद के धुलमिल जानेसे, अवबोधन (कॉम्प्रीहेन्शन) तथा निर्वचन (इंटरप्रिटेशन) की व्याख्या (एक्सप्लेनेशन) के तथा व्यक्ति को समाज के प्रतिकूल मानकर समाजशास्त्रियों ने तर्कहीनता (नांनरेशनल) तथा अवैज्ञानिक दशाओं की उलझनों से सामना कर पाने की सम्भावना को भी एकदम नकार दिया था ।

इस सन्दर्भ में पेरेटो को पर्याप्त साहसी माना जा सकता है क्योंकि तर्क-हीनता (इरेशिनलिटी) पर उसने विशेष बल दिया था। उसने युक्तियुक्त या तर्कसंगत (रेशनल) को तर्कसंगत कर्म (लॉजीकल एक्शन) तथा तर्क-च्युत (नॉन रेशनल) को तर्क-मुक्त कर्म के रूप में स्वीकार कर दोनों स्थितियों को दो परस्पर प्रतिकूल वर्गों के अन्तर्गत देखा था।[7]

"तर्कसंगत (लॉजीकल) कर्म वे कर्म हैं जो अपने लक्ष्य से, न केवल उनके कर्त्ता की दृष्टि में वरन् अन्य अधिक ज्ञान संपन्न लोगों की दृष्टि में भी, तर्क संगत रूप से जुड़े हैं।" अन्य सभी कर्म पेरेटो के अनुसार, "तर्क-मुक्त" (नॉन लाजीकल) कर्म हैं लेकिन वह उन्हें "तर्क-च्युत" (इललॉजीकल) की संज्ञा नहीं देता। तर्क-मुक्तता का क्षेत्र-वास्तव में द्वन्द्वों, भावनाओं, संवेगों, संवेदनाओं, मनोलीलाओं तथा नैसर्गिक ज्ञान का क्षेत्र है। विज्ञान का कार्य वास्तव में इन तर्कमुक्त अवस्थाओं को उनके वास्तविक कारणों का ज्ञान न होते हुए भी मानव व्यवहार में उनके प्रभाव को दर्शाना तथा अभिवृत्तियों (एटीट्यूडस) व कर्मों को एक व्यवस्था प्रदान करना है। मानव व्यवहार मुख्यतया तर्क-मुक्त व्यवहार है, किन्तु विज्ञान उसमें प्रच्छन्न तथा निहित तर्क-संगतता का अन्वेषण कर सकता है।

फ्रायड ने भी सुरक्षात्मक अनिवार्यता (डिफेन्सिव कंपलशन) तथा प्रति-क्रियात्मक अभिव्यक्ति के साथ ही रोगलक्षण (सिम्पटम) की तर्कान्विति के द्वारा इसी दृष्टि को अपनाया था। अवशेष परिवर्ती (रिजिडुअल वैरीएबल) के रूप में तर्केतर पक्ष विद्यमान रहता है इसीलिए विचलन (डीवियेन्स), मन्दन (रिटार्डेशन), प्रतिरोध (रेजिस्टेंस), सीमांतन (मार्जिनेलिटी), हताशा (फ्रस्टेशन), आदिमपन (प्रिमिटिविज्म) जैसे लक्षण बने रहते हैं।

अवशेषों (रिजिडियू) तथा व्युत्पत्तियों (डेरीवेटिव) का भेद, तथ्यों तथा मूल्यों का अन्तर, ज्ञान में विषय तथा विषयी का अन्तर, मूल्यों तथा अन्तिम सत्यों के प्रसंग में तटस्थता, नैतिकता, आदर्शात्मकता तथा अभिव्यंजना त्मक (एक्सप्रेसिव) आयामों के प्रति उदासीनता यही भ्रम उत्पन्न करते हैं कि सामाजिक जगत की संप्राप्ति वस्तुनिष्ठ रूप में तथा वैज्ञानिक रूप में सम्भव है। इस प्रकार की भ्रममूलकता की हमें काफी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। बौद्धिकता (रीजन) को हम एक सामाजिक तथा आर्थिक साम्राज्य विशेष के इतिहास के एक काल विशेष का ही अंग बनाकर उसके स्तर को नीचे गिरा देते हैं। इस बौद्धिकता का स्वरूप प्रकृति के एक ऐसे तर्क प्रधान तथा

गणितीय ज्ञान के रूप में व्यक्त होता है कि जिसमें तथ्यों के पूर्व अध्ययन के आधार पर आगामी परिणामों की भविष्योक्ति सम्भव है : यहां साधन साध्य सम्बन्ध जीवन मूल्यों, विवेक, परिप्रेक्ष्य तथा अर्थवत्ता (मीनिंग) की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं ।

भले ही अत्यन्त महत्वपूर्ण न हो किन्तु यह सर्वविदित सत्य है कि समाजशास्त्र के प्रचलित अनुसंधानों में हम प्रचलित अनुभवात्मक (एम्पीरिकल) तथा विश्लेषणात्मक (एनेलीटिकल) वैज्ञानिक प्रारूपों के मध्य कोई सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाए हैं, समाजशास्त्र सदैव मात्र पूर्वाग्रहपूर्ण ज्ञान का ही सृजन करता रहा है।

क्या सामाजिक-प्राणिशास्त्र से लेकर अर्थशास्त्र तक नव्य मार्क्सवाद से लेकर नव्य संरचनावाद (नियोस्ट्रक्चरलिज्म) तक, सर्वत्र अत्यधिक नूतन विचार धाराओं में भी तर्कबुद्धि (रेशनलिटी) का स्वरूप मात्र पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए रचे गए साधन के रूप में नहीं होता है ? उपयोगिता का विषयिनिष्ट प्रकार्यात्मक (सब्जेक्टिव फंकशन) सिद्धान्त अपनी अवधारण में विषयी (सब्जेक्ट) को विकल्पों के चयन का पूर्ण अवसर प्रदान कर पाने में सक्षम है लेकिन उसका विकल्पमय अवधारित जगत वास्तव में एक सुसंगठित जगत होते हुए भी अर्थहीन खोखला जगत है। साइमन सीमित तर्कणा का आश्रय लेकर एक ऐसे कर्तृत्व प्रधान मानव की रचना करता है, जिसमें यद्यपि मूल्यांकन की सीमित क्षमता है लेकिन वह बुद्धि की सहायता से अपने परिवेशीय जगत में जीवनयापन के सानुकूलन (एडेप्टेशन) सम्बन्धी निर्णय लेता है। तर्क बुद्धि अथवा तर्कणा (रेशनलिटी) भावनाओं (इमोशंस) से प्रमाणित होती है, इस मान्यता के पक्षपोषक सिद्धान्त भी जो भावना की एक ऐसी ऊर्जा के रूप में अवधारणा करते हैं जो निर्णयात्मक क्षणों में कुछ विशिष्ट समस्याओं की ओर मनुष्य का ध्यान आकृष्ट कर पाने में सक्षम हैं, वे भी अन्तर्ज्ञान (इंट्यूशन) तथा भावना को उसी सीमा तक महत्व देते हैं कि जहां तक वह मनुष्य के उद्विकासीय सानकूलन (एडेप्टेशन) के लिए प्रासंगिक है।[8]

आज भी यही मान्यता है कि यह समाजशास्त्रीय तर्कणा इसलिए उपयोगी है क्योंकि वह सानुकूलन स्थापित कर पाने में सक्षम है। यह सत्य है कि नवीनतम उद्विकासवादी प्रारूपों को न तो किसी सार्वभौमिक संतुष्टि (आप्टीमाइजेशन) की और न चरम लक्ष्यों (अल्टीमेट ऑब्जेक्टिव) की आवश्यकता है। किन्तु तर्कणा प्रक्रियाओं को किस दिशा में गतिशील होना चाहिए इस विषय में दिशा निर्देश की प्रवृत्ति को क्या वास्तविक प्रगति माना

जा सकता है ? इस प्रकार हमें यह परिप्रेक्ष्य तो उपलब्ध हो सका है कि हम आंशिक तथा विशेष प्रकार की समस्याओं के हल के लिए बौद्धिक उपकरण का उपयोग कर सके हैं जो लक्ष्यों तथा अन्तिम स्थितियों के चयन और मूल्यांकन में सहायक हो तथा मूल्यों तथा निर्धारित लक्ष्य के अन्तर्विरोधों के बीच मध्यस्थता कर सके। अध्ययन क्षेत्र की अनिश्चितता तथा अन्तर्क्रियात्मक परिस्थितियों के व्यवस्थापन तथा सीमांकन की दुरूहता तथा सिद्धान्त रचियिताओं के अनेक प्रयत्नों के बावजूद आई असफलताएं हमें केवल इसी दशा का बोध कराती हैं कि उन विषम लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कि जिसके प्रति विज्ञान उदासीन है समाजशास्त्र अपनी बौद्धिक क्षमता को प्रतिबद्ध कर देता है, और ऐसी तर्कणा वास्तव में विज्ञान की तर्कतर मान्यताओं की पुष्टि में प्रयोग की जाने वाली एक आस्था मात्र बनकर रह जाती है। यह प्रयास वास्तव में विज्ञान के नाम पर एक समाज अथवा संस्कृति के विशिष्ट मूल्यों तथा विश्वासों को संपुष्टि का ही प्रयास है।[७]

क्योंकि समाजशास्त्र का प्रारूप ज्ञान तथा कर्म के अन्तर्सम्बन्ध का एक यांत्रिक अवकलन (रिडक्शन) है, क्योंकि इस प्रकार के समाजशास्त्र ने आदर्शात्मक (कॉगनीटिव) पक्ष को विलग कर दिया है, और चूंकि इसने अपनी सत्तामीमांसा (आन्टोलॉजी) में वास्तविक सत्ता (बीइंग) को, अपने गूढ़ ज्ञान (ग्नासियोलॉजी) में अन्तःकरण (कॉनशियंस) को, तथा मूल्यों, अभिव्यंजनाओं (मीनिंग्ज) तथा प्रतीक रचनाओं को स्थान नहीं दिया है अतः समाजशास्त्र को विज्ञान कहना अथवा समाज का अन्तःकरण या अन्तर्विवेक कहना उचित नहीं हैं।

हम इसी अर्थ के एक संकटग्रस्त समाजशास्त्र की बात कर रहे हैं और समाजशास्त्री की भूमिका के विषय में अपनी किंकर्त्तव्यमूढ़ता का प्रदर्शन कर रहे हैं। कुछ भी हो लेकिन एक बात निश्चित है : यदि यथाशीघ्र हमने कोई उपाय नहीं किया और अपने इस बौद्धिक प्रारूप में आमूल परिवतन नहीं किया तो समाजशास्त्र की यह ज्ञानात्मक नपुंसकता उसे आत्मघात के कगार पर खड़ा कर देगी।

ऐसी दशा में इस कष्टकारी, दीर्घकालिक संकट से उबरने का क्या उपाय हो सकता है ? अपनी मृत्यु से कुछ सप्ताह पूर्व अपने एक पत्रोत्तर में ब्राउडेल ने व्यंग्यपूर्वक लिखा था : अब यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि समाजशास्त्र आधुनिक औद्योगिक समाज की ही एक विशेष प्रकार की मानसिकता है, एक ऐसा विशिष्ट ज्ञान है जिसे इतिहास की एक प्रदत्त भूमि पर आरोपित कर

दिया गया है। यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस प्रकार के ज्ञान का औचित्य तथा प्रासगिकता केवल उसकी ऐतिहासिक भूमिका द्वारा ही सिद्ध होती है। समाजशास्त्र को इतिहास में रोप दीजिए और आप उसे उसकी वर्तमान अवरुद्धता से उबार लेंगे।

समाजशास्त्र का इतिहास से अत्यधिक घनिष्ट सम्बन्ध है यह मुझे स्वतः स्पष्ट है। फिर भी मुझे संदेह है कि जिस संकट के विषय में स्वर्गीय एलविन गोल्डनर ने लिखा था उस संकट से इतिहास हमें पूर्णतया मुक्त कर सकता है।[10]

ब्राउडेल को भांति मेरी भी शंका यही है कि यदि समाजशास्त्र का सम्बन्ध एक समाजविशेष से ही है, यदि वह समाज का निर्माण एक कल्पित चित्र के आधार पर ही करना चाहता है, तथा जो शब्द सामाजिक यथार्थ की व्याख्या के लिए प्रयुक्त होते हैं यदि वे उसके निर्माण तथा संगठन की दिशा में भी प्रयोग किये जाते हैं तब उस दशा में निर्माण चिंतन से पृथक रहकर यह विज्ञान (डिसीप्लिन) तटस्थ भाव से यथार्थ का वस्तुपरक विश्लेषण कर पाने में कैसे समर्थ होगा। परिज्ञानवाद (कॉगनीविज्म), भाष्य विज्ञान (हरमेन्यूटिक्स), एथनोमेथेडोलॉजी, सुनिर्मित सिद्धान्त रचना तथा उत्तर संरचनावाद (पोस्ट स्ट्रक्चरलिज्म) ने अपने मत वभिन्य द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि विशिष्ट तथ्यों पर आधारित एक सार्वभौमिक ज्ञान रचना तथा उस एकीकृत ज्ञान को पुनः विशिष्टताओं के स्तर तक वापस उतार लाना कितना दुरूह है।[12]

ऐसी स्थिति में क्या किया जाना चाहिए ? क्या हमें अवलोकनात्मक तथा आगमनात्मक समस्याओं तक ही सीमित रहकर तथा पॉपर की प्रणाली का अनुसरण कर खण्डनात्मकता (रेफ्यूटेबिलिटी) को अनुमान (इनफरेंस) का स्थान प्रदान करना चाहिए अर्थात् गलती कर के सीखने की पद्धित का अनुसरण करना चाहिए ? क्या हुस्सर्ल के सुझावों के अनुसार, आवश्यक होने पर, हमें प्रत्यक्षवादी विज्ञान की अध्ययन विधि से किसी भिन्न पद्धति का अनुसरण करना चाहिए ? या हम अब भी वैज्ञानिक समाजशास्त्र बनाम साहित्यिक समाजशास्त्र, परिमाणवाद (क्वांटिटेटिविज्म) बनाम गुणात्मकतावाद (क्वालिटेटिविज्म), विज्ञानवाद बनाम सौन्दर्यबोधात्मकता, पूर्व सापेक्षवादिता तथा अनेकार्थों (अर्थ व्याख्याओं) का प्रचलन अथवा पुनरुक्तिवाद (टॉटोलॉजी) तथा शब्दक्रीड़ा की पुरानी बचकानी बहस में पड़े रहने को ही विवश रहेंगे ?

इस अवस्था से छुटकारा पाने का मेरे पास कोई मार्ग नहीं है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि इस वर्तमान स्थिति का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता तथा हमें किसी प्रकार इस गत्यावरोध से बाहर निकलना चाहिए। हम अपने प्रयास का प्रारम्भ कम से कम तर्क-विवेक (रीजन) तथा तर्क-पद्धति (रीजनिंग) में भेद स्थापन से तो कर ही सकते हैं।

तर्क-विवेक (रीजन) क्षमता तथा मूल्य दोनों है: यह सामाजिक व्यक्ति के निर्माण की प्रक्रिया का एक अंग है और उसे सामाजिकता के दायरे में अपने लिए एक अर्थवत्ता की तलाश की सम्भावा प्रदान करता है।[13] यह एक सामाजीकरण की प्रक्रिया है तथा उसमें यह आस्था है कि मनुष्य कुछ सिद्धान्तों के अनुसार जानने, निर्णय लेने तथा कर्म सम्पन्न करने में सक्षम है तथा इन निर्णयों (विश्लेषणात्मक, संश्लेषणात्मक, प्राक्कल्पनात्मक) के विभिन्न प्रकारों को व्यावहारिक बनाने में भी समर्थ है। ग्रीक काल से आज तक, इस तर्क-विवेक (रीजन) का इतिहास नानात्व प्रधान रहा है, इसमें क्रांतिकारी परिवर्तन तथा संकटकाल प्रस्तुत हुए हैं, इससे प्रबोधन दर्शन (एनलाइटनमेंट फिलोसफी) का सूत्रपात किया है तो मनोविश्लेषण (साइकोएनेलेसिस) को भी प्रस्तुत किया है और सामाजिक सम्बन्धों की उत्पादन क्षमता के रूप में समिति (एसोसियेशन) के सिद्धान्त तथा मानसिक संरचनाओं (मेंटल स्ट्रक्चर्स) की अन्तर्जातता (इननेटनेस) की भी पुष्टि की है। अन्य वस्तुओं के साथ, तर्क-विवेक (रीजन) के इस इतिहास ने सर्वहारा (प्रोलेटेरियट) को एक उद्देश्य (मिशन) तथा मोक्षधर्मी धार्मिक सिद्धान्तों को एक आधारभूमि प्रदान की है। एक सम्भावना के रूप में तर्क विवेक (रीजन) मानवजाति का एक आवश्यक गुण है। यह सत्य है कि हमारी संस्कृति के विकास में एक प्रकार से तर्क-विवेक (रीजन) एक जीवन–मूल्य के रूप में प्रस्तुत हो चुका है। मोरिन द्वारा प्रयुक्त अर्थ[14] में, केवल आधारभूत मानव–विज्ञान का विकास ही इस सत्य के प्राकट्य में सहायक हो सकता है कि किसी विषय के आकार (फार्म) की अन्य विषयों के साथ तथा द्वारा रचना किस प्रकार होती है, मानव समूह किसी वस्तु का अर्थ निर्धारण तथा मूल्यांकन क्यों करते हैं तथा मूल्यांकनों से प्रारम्भ कर सामाजिक यथार्थ (रियलिटी) की रचना तथा उसमें परिवर्तन और उसके अनुकूल अपने को किस प्रकार ढालते हैं।

इस प्रकार का आधारभूत मानवशास्त्र (एन्थ्रोपालोजी) ही हमें वास्तविक विषय (सब्जेक्ट) से सम्बन्धित सिद्धान्त रचना (थियरी) प्रदान कर सकता है तथा प्रामाणिक रूप से उस दार्शनिक परम्परा की पुर्नस्थापना कर सकता है कि जिसे हम सत्तर के वर्षों में मानव की मृत्यु घोषणा के साथ

धराशायी कर आए हैं । इसके विपरीत तर्क-विवेचना (रीजनिंग) का तात्पर्य एक ऐसी सामर्थ्य घोषणा से है कि जो हमारे निर्णयों तथा सम्बन्ध रचनाओं को प्रतिभूत करने वाले औपचारिक नियमों में अनुमान अथवा प्रमाण निर्धारण में, आगमन (इंडक्शन), निगमन (डिडक्शन), सादृश्य स्थापन तथा परिज्ञान तथा पहुंचने की प्रक्रिया में एवं हमारे दृष्टिकोण में व्यक्त होती है।

बच्चों में बुद्धि (इंटेलीजेंस) के प्रादुर्भाव से सम्बन्धित ज्याँ पियाजे[15] का अध्ययन मेरी दृष्टि में यह दर्शाने के लिए कि एक नियंत्रित संस्कृति के व्यक्ति में अनुमानों (इनफरेन्सेज) तक पहुंचने तथा "आंतरिक समन्वय से प्रारम्भ कर अमूर्त परिणामों" (एब्सट्रेक्शनस) तक पहुंचने की क्षमता का किस प्रकार विकास होता है एक अत्यन्त सफल प्रयास है। एक आदर्श संतुलन "जो सभी चेतनामयी गतिविधियों में व्याप्त है", और एक सामूहिकता का परिणाम है, इस मानवीय क्षमता को पियाजे ने "अन्तर्विरोध के नियमों के प्रति समर्पण" कहकर परिभाषित किया है, और उसे "तर्कणा (रीज़निंग) की मौलिक आवश्यकता" के रूप में स्वीकार किया है।

प्याजे के प्रयास, कृत्रिम बुद्धि (आर्टीफिशियल इंटेलीजेंस) विषयक अध्ययन तथा संकल्पनात्मकता (इंटेन्शनलिटी) एवं प्रयोजनवादिता[16] परक अध्ययनों की प्रगति तथा फोडोर अथवा जानसन लैरो[17] के एवं काह्‌न मैन व ट्वेरस्की [18] के सांख्यिकीय तर्कणा विषयक अध्ययनों के बावजूद हम तर्कणा (रीजनिंग) की विभिन्न स्तरीय संरचना के परिपक्व ज्ञान से अभी बहुत दूर हैं। हम निगमनात्मक (डिडक्टिव) तर्क पद्धति के विषय में थोड़ा बहुत अवश्य जानते हैं परन्तु अन्य तर्क पद्धतियों, विशेष रूप से आगमनात्मक (इंडक्टिव) तर्क पद्धति के विषय में बहुत कम जानते हैं।

पॉपर,[19] कारनैप,[20] तथा गुडमैन[21] के योगदान के बावजूद आगमनात्मक तर्क पद्धति के नियम रहस्यमय बने हुए हैं अर्थात् पूर्ण स्पष्ट नहीं हो पाए हैं। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि ऐसे नियमों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। ज्याँ ब्लेज ग्रिज ने तर्क प्रक्रिया की संरचना के कुछ पक्षों को, जैसे विन्यास रचना (स्कीमेटाइजेशन) को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और वह यह दर्शा सका है कि विषय का निरूपण (एनंसियेशन) किस प्रकार विषयग्राही (रिसीवर) के लिए विश्वसनीय विन्यास की रचना कर पाता है। लेकिन वही ग्रिज इस स्वीकार्य (एक्सेप्टेबिलिटी) तथा संग्रहणीयता (रिसिवेबिलिटी) के विषय में सिद्धान्त रचना करता है, जबकि उनकी उत्पत्ति तर्कक्षेत्र की उत्पत्ति के पूर्व तथा बाहर होती है।[22]

हमारी वर्तमान अनुसंधान दशा को देखते हुए तर्क विवेक (रीजन) तथा तर्कणा (रीजनिंग) का अन्तर हमें यह स्पष्ट करने में सहायक होगा कि इस जगत के ही एक नये प्राणी का इसी जगत में अर्थात् सामाजिक वस्तुओं के विश्व में प्रवेश किस प्रकार होता है तथा एक सामाजिक प्राणी की चरित्र रचना में अन्य लोगों की अभिवृत्तियां कैसे स्थान पाती हैं, यह प्रक्रिया अधिकांश प्रतीकात्मक होती है क्योंकि इसकी अन्तर्वैषयिक (इंटरसब्जेक्टिव) दक्षता संस्कृति द्वारा प्रदत्त सह स्वीकृत संकेतों द्वारा पुष्ट होती है ।[23]

विवेक बुद्धि (रीजन) एक ऐसी प्रक्रिया है कि जिसके द्वारा जीवधारी पर्यावरण सम्बन्ध का प्राकट्य होता है तथा जिसके द्वारा ऐसी वस्तुओं (आब्जेक्ट्स) का भी प्रकटन सम्भव हो पाता है कि जो अन्यथा सम्भव नहीं होता । विवेक बुद्धि द्वारा ही सामाजिक विषयों की रचना होती है और वही उन्हें अर्थ (मीनिंग) प्रदान कर संस्थाओं की रचना द्वारा स्थायित्व प्रदान करती है । इसी प्रकार के पूर्व रचित विषयों, जिन्हें मानव की सृजनशील कल्पना विस्तार देती है, उन्हीं विषयों से प्रारम्भ होने वाले हमारे कार्यों को तर्कणा (रीजनिंग) आकार प्रदान करती है । यदि विवेक बुद्धि (रीजन) मानव जाति का एक स्वाभाविक गुण है तथा विभिन्न संस्कृतियों के परिवर्तनशील स्वरूपों के अनन्तर एक समग्रता का निर्माण करती है तो तर्कणा (रीजनिंग) इसके विपरीत औपचारिक तथा जड़ भाषा तथा औपचारिक विचार व्यवस्थाओं के द्वारा एक ऐसी सस्कृति का निर्माण करती है जिसमें विवेक-बुद्धि (रीजन) तथा तर्कणा (रीजनिंग) के बीच सेतु का निर्माण सम्भव नहीं हो पाता, बहुधा इस व्यवस्था में विवेकबुद्धि (रीज़न) का तर्कणा (रीज़निंग) में अवकलन (रिडक्शन) कर दिया जाता है ।

ग्रिज को भाषा में कह सकते हैं कि समाजशास्त्र की अधिकांश कठिनाइयां इसी प्रकार की "सांस्कृतिक पूर्वरचनाओं" (कल्चरल प्रिकंस्ट्रक्शन) द्वारा उत्पन्न हुई हैं । वास्तविकता यह है कि अपनी विषय वस्तु को कृत्रिम भाषा द्वारा मूर्तता प्रदान करने वाले विज्ञानों के विपरीत विषयवस्तु के एक क्षेत्र को दूसरे की तुलना में धुंधला देने से समाजशास्त्र को अपेक्षित दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती । अन्य अध्ययन क्षेत्रों की तर्कश्रेणियों में रचित विषयों (आब्जेक्ट्स) को समाजशास्त्र अपनी प्रत्यय योजनाओं में समाहित कर पाने में सफल नहीं हो पाता क्योंकि मानवीय तथ्यों तथा पूर्वविचारित सैद्धान्तिक कथनों (जिनकी प्रामाणिकता उनकी आंतरिक तर्कान्विति में निहित होती है) में सामंजस्य का व्यापक आधार उसे उपलब्ध नहीं होता । इस कठिनाई के साथ ही अन्य

कठिनाइयां जैसे वैज्ञानिक वास्तवीकरण (ग्राब्जेक्टिवेशन) तथा सामाजिक उपयोगिता के मध्य तथा सामाजिक मांग व सामाजिक क्रिया के मध्य अस्पष्ट अन्तर्सम्बन्धों की स्थापना से उत्पन्न कठिनाइयां और जुड़ जाती हैं ।

इन कठिनाइयों पर हम कैसे विजय प्राप्त कर सकते हैं ? उनकी समालोचनापरक तालिका बनाकर उनकी रचना-प्रक्रिया, परिणामों, सामाजिक प्रकार्य तथा सामाजिकता के अन्वेषण द्वारा यह कार्य हो सकता है । और यह काम सामाजिक विषयों (आब्जेक्टस) की निर्मित के स्तर पर होना चाहिए क्योंकि केवल इस स्तर पर ही उनकी बोधगम्यता (कांम्प्रीहेंशन) के निर्धारक व प्रेरक तत्वों तथा अभिधारणाओं (पास्ट्यूलेट्स), स्वयंसिद्ध पक्षों (एक्जिम्स) तथा प्राक्कल्पनाओं (हाइपोथीसिस) को औचित्य प्रदान करने वाले पक्षों को समझ पाने का अवसर प्राप्त हो सकता है । सामाजिक आचरणों (प्रैक्टिसेज) का इतिहासोत्तर (ट्रांसहिस्टोरिकल) तथा अन्त–सांस्कृतिक विज्ञान इन अत्यावश्यक सांस्कृतिक पूर्वरचनाओं (कल्चरल प्रिकंस्ट्रक्शनस) के स्पष्टीकरण में तथा ग्रिज की तर्करचना सम्बन्धी सिद्धान्तधारा (थियरी) तथा येर्गेन हैब्रमास के नवीनतम लेखन[24] में विकसित सम्प्रेषण क्रिया तथा वाग्भाषा (स्पीच) की समझ विषयक पूर्वधारणा के सामान्यीकरण के लिए भी उपयोगी हो सकता है ।

उत्तेजनाएं, हलचल, अन्तर्ज्ञान तथा ज्ञान के विषयक्षेत्रों में एडगरमोरिन जैसे लेखकों के लेखन द्वारा दृष्टिगोचर होते स्वस्थ एवं रक्तिम बीजांकुर मेरी दृष्टि में समाजविज्ञानों[25] को पुनःशक्ति देने की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है । लुई ड्यूमों[26] का योगदान भी उतना ही महत्वपूर्ण है । ड्यूमो के तुलना विषयक सिद्धान्त, जिनका कि प्रस्तुतिकरण भावी प्रगति तथा सामान्यीकरण की दृष्टि से आवश्यक है इस तथ्य का पर्याप्त संकेत है कि समाजशास्त्र का अवधारणात्मक ढांचा एक ऐतिहासिक स्थिति विशेष से उत्पन्न हुआ है और इस सत्य का उद्‌घाटन करता है कि समाजशास्त्र में आंतरिक संगठनात्मक का नितांत अभाव है, उसके मूल तत्वों का गठन वास्तव में कृत्रिम रूप से इस प्रकार किया गया है कि उसके विभिन्न अंगों का नियमन तथा सार्थकता केवल उनकी पारस्परिक अन्तर्निर्भरता पर ही आश्रित है तथा कृत्रिम रूप से सृजित इन मूल तत्वों के संदर्भों से हटकर उनका निजी अर्थ कुछ भी नहीं है ।[27]

जहां मुझे ठोस नतीजों के विषय में कुछ कहना चाहिए था मैं योजनाएं बनाने लगा हूं । किन्तु ऐसे ऐतिहासिक क्षण में जबकि समाजशास्त्रीय समुदाय

विखंडित हो चुका है, समाजशास्त्रीय ज्ञान में बिखराव आ चुका है तथा समाज में मानव सम्बन्धी चेतना एवं विज्ञान के रूप में जन्मा ज्ञान समाप्ति की ओर अग्रसर है क्या कुछ और कहा जा सकता है ? आज जबकि परिवर्तनों विचलनों तथा मृगमरीचिकाओं पर नियंत्रण स्थापित करना आवश्यक हो गया है क्या इस पारम्परिक ज्ञान की स्मृति को आगे बढ़ाते रहना उचित होगा ?

भूण्डल के आणवीकरण, सामाजिक सम्बन्धों में निरन्तर बढ़ती हुई अधिकारीतंत्रीय औपचारिकता, वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि की बाढ़ से उत्पन्न खतरे तथा जिस प्रकार पूर्व युगों में अलौकिकतावादी ज्ञान मानव, प्रकृति तथा जगत को अपनी छल योजना के अन्तर्गत अधीनस्थ कर लेना चाहता था आज आधुनिक विज्ञान का भी उसी लक्ष्य को लेकर अग्रसार होना, अत्यधिक एकात्मक संसार में निरन्तर बढ़ती हुई अलगाव की समस्या, उपयोगितावादी अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों का अभाव तथा प्राकृतिक परिवेश के अत्यधिक शोषण से उत्पन्न जातीय संकट का निरन्तर गहराना ऐसी विषम स्थिति में हमारी भूमिका एक समाजशास्त्री के रूप में क्या होगी ?

मेरा विश्वास है कि हम विज्ञान एवं तकनीकी विकास के खतरों से उस सीमा तक बच सकते हैं कि जहां तक उपयोगितात्मक विज्ञानों के लिए आवश्यक परिगणनात्मक बौद्धिक धारा के समानान्तर एक ऐसी चिन्तन धारा की भी पुष्टि करे कि जिसका कार्य मध्यस्थता करना तथा चिन्तन या मनन करना हो जो एकहार्ट के जर्मन शब्द[28] 'गेलासेनहेट' (Gelassenheit) की क्षमता से युक्त हो ।

समाजशास्त्र इस दिशा में अपना योगदान कर सकता है । एक उद्धारक के रूप में, वर्तमान के उस आक्रान्ता स्वरूप से कि जो मानव जीवन को केवल एक संकीर्ण दिशा और सत्य पर आधारित कर उसकी संभाव्यता को अत्यन्त संकीर्ण बना देना चाहता है, समाजशास्त्र अपने मध्यस्थता परक तथा मननात्मक (रिफलैक्टिव) स्वरूप का विकास कर हमें मुक्ति दिला सकता है । ऐसा समाजशास्त्र हमें अन्य सभ्यताओं तथा मानव जीवन के अन्य प्रकारों को समझ पाने की क्षमता प्रदान करने के साथ ही हमें अपने आपको प्रश्नांकित करने, तथा अन्य संस्कृतियों में हमारे वर्तमान अस्तित्व से सम्बन्धित अन्य प्रकार के समाधानों को तलाशने में सहायक हो सकता है ।

NOTES AND REFERENCES

1. R.A.Nisbet, *The Sociological Tradition*, New York, Basic Books 1966; F. Paul-Levy, "A la fondation de la sociology: l'ideologie primitiviste," *L'Homme*, nos. 97–98, January–June, 1986, XXVI (1-2), pp. 269–286.
2. J.Habermas, *Theorie und Praxis*, Frankfurt, Suhrkamp, 1971, 4th ed.
3. E.Husserl, *Die Krisis der europaischen Wissenschaften und die transzendentale Phanomenologie*, The Hague, Nijhoff, 1959; G.Lukacs, *Die Zerstorung der Vernunft*, (with a new Preface) Neuwied, Luchterhand, 1962, *Oeuvres*. Vol. IX; M.Horkheimer, *Zur Kritik der instrumentellen Verunft*, Frankfurt, Fischer, 1967.
4. A.Bellebaum, *Ferdinand Tonnies*, in *Klassiker des soziologischen Denkens*, Vol. I: *Von Comte bis Durkheim*, Dirk Kasler ed., Munich, Beck, 1976,pp. 232–266 and 487–493.
5. Cf. H.J.Dahme and O.Rammstedt ed., *Georg Simmel und die Moderne* Frankfurt. Suhrkamp, 1984, but also P.E.Schnabel, *Die soziologische Gesamtkonzeption Georg simmels: eine wissenschaftshistorische und wissenschaftstheoretische Untersuchung*, Frankfurt, Fischer, 1974. In French see G.Simmel, *Sociologie et epistemologie*. Introduction by J.Freund, Paris, Puf, 1981; Id., *Les problemes de la philosophie de l'histoire. Une etude d'epistemologie*. Introduction and translation from the German by R.Boudon, Paris, Puf, 1984.
6. F.Rizzo, *Werner Sombart*, Naples, Liguori, 1974; F.Raphael. *Judaisme et capitalisme. Essai sur la controverse entre Max Weber et Werner Sombart*, Paris, Puf, 1982.
7. G.Busino, *Introduction a une histoire de la sociologie de pareto*, Geneva, Droz, 1983.
8. H.A.Simon, *Reason in Human Affairs*, Stanford, Calif., Stanford U.P., 1983. Cf. also B.Wilson, ed., *Rationality*, Oxford, Blackwell, 1970; M. Hollis and S.Lukes, ed., *Rationality and Relativism*. Oxford, Blackwell, 1982; I.C.Jarvie, *Rationality and Relativism. In Search of a Philosophy and History of Anthropology*, London, Routledge and Kegan Paul, 1984.
9. A. W. Gouldner, *The Coming Crisis of Western Sociology*, New York, Basic Books, 1970, and, by the same author, *For Sociology. Renewal and Critique*, in *Sociology Today*, Harmondsworth, Penguin Books, 1975.

10. F.Braudel, *Ecrits sur l'histoire*, Paris, Flammarion, 1969.

11. A.Giddens, *New Rules of Sociological Method, A Positive Critique of Interpretative Sociology*. London, Hutchinson, 1976; R.A.Wallace and A. Wolf, *Contemporary Sociological Theory*, Prentice–Hall, Englewood Cliffs, 1980.

12. C.Castoriadis, *L'institution imaginaire de la societe*, Paris, Seuil, 1975; *Id.*, *Les carrefours du labyrinthe*, Paris Seuil, 1978; *Id.*, *Domaine de l'homme*, Paris, Seuil, 1986.

13. E.Morin, *Science avec conscience*, Paris, Fayard, 1982; *Id.*, *Sociologie*, Paris, Fayard, 1984.

14. J.Piaget, *Etudes sociologiques*, Geneva, Droz, 1977.

15. H.L.Dreyfus, *L'intelligence artificielle. Mythes et realites*, Paris, Flammarion, 1984; J.Searle, *L'intentionalite*, Paris, Minuit, 1985; G. Cellerier, "La genese historique de la cybernetique ou la teleonomie est-elle une categorie de l'entendement?" *Revue europeenne des sciences sociales*, XIV, 1976, nos. 38-39, pp.273-290.

16. J.A.Fodor, *The Language of Thought*, Cambridge, Mass., Harvard U.P., 1975; P.N.Johnson-Laird and P.C.Wason ed., *Thinking, Reading in Cognitive Science*, Cambridge, Cambridge U.P. 1977, and especially *Mental Models*, Cambridge, Cambridge U.P., 1984.

17. D.Kahneman *et al.*, *Judgement under Uncertainty: Heuristics and Biases*, Cambridge, Cambridge U.P., 1982.

18. K.Popper, *The Logic of Scientific Discovery*, New York, Harper and Row, 1968; *Id*,, *Conjectures and Refutations. The Growth of Scientific Knowledge*, New York, Harper, and Row, 1968. See also P.Jacob, *De Vienne a Cambridge, L'heritage du positivisme logique de 1950 a nos Jours* Paris, Gallimard, 1980, especially pp. 121–176.

19. J. Hintikka, ed., *Rudolf carnap, Logical Empiricist : Materials and Perspectives*, Dordrecht, Reidel, 1975; and P. A. Schilpp ed., *The Philosophy of Rudolf Carnap*, La Salle, III., Open Court, 1963.

20. N. Goodman, *Fact, Fiction and Forecast*, Indianapolis, Hackett, 1979; *Id Ways of Worldmaking*, Brighton, Harvester, 1984. Also P. Jacob, *op. cit.*, pp. 177–195.

21. J–B. Grize, *De la logique a l'argumentation*, Geneva, Droz, 1982. For some extensions of the problematic, see R. J. Falmagne ed., *Reasoning: Representation and Process*, Hillsdale, N. J., Erlbaum,

1975; R. M. Farr and S. Moscovici, eds. *Social Representations*, Paris, Ed. de la Maison des sciences de l' homme, 1984.

22. G. Busino, *Les theories de la socialisation*, Lausanne, IASUL, 1985.

23. J. Habermas, *Theorie des kommunikativen Handelns*, Vol. I : *Handlungsrationalitat und gesellschaftliche Rationalisierung*. Vol. II : *Zur Kritik der funktionalistischen Vernunft*, Frankfurt, Suhrkamp, 1981.

24. Cf. especially E. Morin, *La methode III. La connaissance de la connaissance. Livre premier. Anthropologie de la connaissance*, Paris, Seuil, 1983.

25. L. Dumont, *Homo hierarchicus. Le systeme des castes et ses implications*, Paris, Gallimard, 1979; *Id., Homo aequalis*: *Genese et epanouissement de l'ideologie economique Paris, Gallimard*, 1977; *Id Essais sur l'individualisme. Une perspective anthropologique sur l'ideologie moderne*. Paris, Seuil, 1983.

26. Cf. G. Berthoud and G. Busino, eds., *L'exploration de la modernite. La demarche de Louis Dumont*, Geneva, Droz, 1984; G. Busino, "Pour une "autre" theorie de la comparaison," *Revue europeenne des Sciences sociales*, XXIV, 1986, no. 72, pp. 209–216.

27. Read on this subject the Volume *Ordre et desordre*. Texts of conferences and meetings organized by the 29th Rencontres internationales de Geneve, Neuchatel, La Baconniere, 1984.

विकल्पहीन बोध, रचनात्मक शून्यता एवं अन्तिम स्वातंत्र्य पर जे. कृष्णमूर्ति*

दिनेश चन्द्र माथुर**

मुक्त यौनाचार (Free Sex), गुरुओं, हरे कृष्ण कीर्तनियों तथा अनुभवातीत ध्यान के शिक्षकों के इस युग में जे. कृष्णमूर्ति ही विलक्षण महानता से युक्त अ-गुरु (Non Guru) के रुप में लगभग अलग-थलग दीखते हैं। विश्व के प्रमुख केन्द्रों में की गईं उनकी व्याख्यान यात्राऐं उस ऐतिहासिक बुद्ध की याद दिलाती हैं जिसने चुनिन्दे व्यक्तियों को जंगल में बने आश्रमों (गुरुकुलों) में दी जाने वाली शिक्षा की उपनिषदीय परम्परा के विपरीत उत्तर-पूर्व भारत के गाँव-गाँव में पैदल चलकर जाति, रंग अथवा लिंग भेद के प्रति उपेक्षा भाव से प्रेम, करुणा एवं सहानुभूतिपूर्ण अपने संदेश को लोगों तक पहुंचाया। लेकिन ऐतिहासिक तुलनाएं कभी पूर्ण नहीं होतीं। जबकि बुद्ध ने स्थानीय बोली का (अपने उपदेशों में) प्रयोग किया, अपने संदेश को श्रोताओं के बौद्धिक स्तर के अनुरुप अपनाया तथा कहानियों और दृष्टान्तों (नीति कथाओं) का मुक्त प्रयोग किया, कृष्णमूर्ति ने ऐसी किसी सहायता के बिना मंत्रमुग्ध श्रोताओं को अपनी गहन विश्लेषणात्मक शैली में आंग्ल भाषा में व्याख्यान दिये। कोई आश्चर्य नहीं कि कृष्णमूर्ति की तुलना में बुद्ध का आकर्षण एवं प्रभाव ऐतिहासिक रूप से अपरिमित रुप में

---

* J. Krishnamurti on Choiceless Awareness, Creative Emptiness and Ultimate Freedom **Diogenes,** No. 126, Summar, 1985, pp. 91-103.

अनुवाद : लेखक स्वयं

व्यापक रहा और, तो भी, दोनों मताग्रह, परम्परा एवं तत्त्वमीमांसीय सूक्ष्मताओं से दूर रहे और जान-बूझकर दुख की सर्व व्याप्त मानवीय अवस्था को जीतने के लिये शक्कर चढ़ी गोलियां एवं महोषधि को लोगों को बांटना जान बूझकर अस्वीकार किया । उन्होंने प्रयास किया कि लोग मानव अवस्था को "देखें" और "समझें" जो उन्हें "रचनात्मक शून्यता", परमशान्ति एवं मौलिक परिवर्तन के उस यथार्थ किनारे तक ले जायें जो कि अनुभवातीत शान्ति प्राप्त कराने में एक मात्र सहायक (प्रेरक) है । दूसरे शब्दों में, बुद्ध के समान जे कृष्णमूर्ति का सिद्धान्त उन दुर्बल एवं पौरुषहीनों के लिये नहीं है जिन्हें सभी प्रकार की बैसाखियों की आवश्यकता है बल्कि उनके लिये है जिनमें सिद्धान्तों एवं प्रत्ययात्मक पहेलियों में उलझे बिना वस्तुओं की (सहानुभूति पूर्ण) समझ-प्रक्रिया द्वारा स्वयं अपनी सहायता करने का साहस है । इस लेख का उद्देश्य कृष्णमूर्ति के आत्मा, क्रिया एवं स्वतंत्रता के प्रत्ययों को समझना, विश्लेषण करना एवं उनका मूल्यांकन करना है ।

कृष्णमूर्ति का जन्म सन् 1895 में एक दक्षिण भारतीय गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ था । जब वे मुश्किल से बारह वर्ष के हुए श्रीमती एनी बैसैन्ट ने उन्हें गोद ले लिया । उन्हें कृष्ण, बुद्ध और ईसा के अनुक्रम में विश्व गुरू की भूमिका में स्थापित किया जाना था । और, वस्तुतः प्रसिद्ध थियोसोफीकल सोसाइटी के चार्ल्स लीडबीटर ने तो उन्हें ऐसा मसीहा भी घोषित कर दिया । तथापि, 1925 में केलीफोर्नियां में अपने भाई की मृत्यु के उपरान्त कृष्णमूर्ति ने आर्डर आफ दि स्टार (सितारा धर्म संघ) को विघटित कर दिया; उनमें आमूल मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हुआ और उन्होंने मसीहा होने के सभी दावों को नकार दिया । निश्चय ही, इन प्रारंभिक अनुभवों ने कृष्णमूर्ति के मनस[1] पर अमिट छाप छोड़ी होगी । सभी मताग्रहों एवं आप्तत्व-लौकिक या धार्मिक-की अस्वीकृति की ये (अनुभव) आंशिक व्याख्या करते हैं । इस प्रकार वे पूर्ण तथा स्वतंत्र विचार के मार्ग पर चल पड़ते हैं । तभी से कृष्णमूर्ति ने स्वयं के लिये सोचने तथा सुव्यवस्थित तथा सुगठित व्याख्यानों के समय अपने श्रोताओं को वैसा ही करने के लिये प्रोत्साहित करने का असाधारण साहस का परिचय दिया । भड़कीली भाषणबाजी को न अपनाकर वे प्रायः बुनियादी मानव समस्याओं से सम्बन्धित प्रकरणों का विश्लेषण करते समय प्रकट रूप से नये ढ़ंग से सोचते थे जिससे (उनके) श्रोता उनके विचारों को क्रम से समझ सकें ।[2]

कृष्णमूर्ति के संदेश का प्रस्थान बिन्दु क्या है ? उनका विश्लेषण मानव दुख जो एक तथ्य है, से प्रारम्भ होता है । यद्यपि दुख के सम्प्रत्यय में दैहिक

पीड़ा तो सन्निहित है ही परन्तु यह (दुख) शारीरिक पीड़ा से अधिक व्यापक है। कृष्णमूर्ति प्रमुखतः इसी मनोवैज्ञानिक दुख की चर्चा करते हैं। इसके साथ ही वे इस तथ्य से अवगत हैं कि दुख, मात्र व्यक्तिगत नहीं होता बल्कि सामूहिक दुख भी होता है। उदाहरण के रूप में सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई दुर्व्यवस्था सम्भ्रान्ति एवं किंकर्तव्य–विमूढ़ता को ले सकते हैं। कृष्णमूर्ति कहते हैं :–"दुख हैं–राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक दुख; हमारी समग्र मनो–वैज्ञानिक सत्ता सम्भ्रमित है सभी नेताओं ने चाहे वो राजनैतिक हों अथवा धार्मिक हमें निराश किया है, सभी ग्रन्थों की महत्ता समाप्त हो चुकी है।"[3] मूलतः कुछ दोषपूर्ण है यह मनवाने के लिये, हमें मात्र यह देखने की आवश्य–कता है कि आज विश्व में क्या हो रहा है। मिडिलईस्ट में हो रहे हिंसक उद्‌-भेदन, सभी स्थानों पर कानून और व्यवस्था का टूटना, विश्व के सभी नगरीय केन्द्रों में अपराधों में वृद्धि, धार्मिक समूहों के बीच उन्मादी संघर्ष तथा महा–शक्तियों के बीच ताप–नाभिकीय युद्ध के खतरों ने विश्व को अनुत्क्रमणीय विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है। इस क्लान्ति का क्या कारण है? कृष्णमूर्ति का यह मानना है कि नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्यों की पूर्णतः परिसमाप्ति एवं एन्द्रिक तथा भौतिक मूल्यों का अत्यधिक गुणगान ही इसका (क्लान्तिका) मूल कारण है। इससे बाहर निकलने का क्या रास्ता है? क्या हमें इस समस्या के समाधान हेतु भगवद्‌गीता या बाइबिल जैसे धार्मिक ग्रंथों से परामर्श लेना चाहिये? क्या हमें इसके लिये गुरुओं या नेताओं-राज-नैतिक या धार्मिक-के पास जाना चाहिये? क्या हमें जगत के प्रपंचों से अपने आपको दूर कर एकान्तवास करना चाहिये? क्या हम सर्व शक्तिशाली ईश्वर की प्रार्थना करें और यह प्रतीक्षा करें कि कब वह जगत् का त्राण करता है? कृष्णमूर्ति इन सभी उपायों को दुख (दुख की समस्या) की इस भयंकर चुनौती से मुकाबला करने के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त मानकर अस्वी-कार करते हैं। वे सदैव अपने श्रोताओं को स्मरण कराते रहते हैं कि उन्होंने कोई भी पुस्तक चाहे धार्मिक हो या धर्म निरपेक्ष, नहीं पढ़ी। उन्होंने न भगवद् गीता न बाईबिल और न उपनिषद् पढ़े हैं। उन्हें प्लेटो, काण्ट, हीगल और शंकर की रचनाओं के बारे में भी ज्ञान नहीं है। वे फ्रायड, एडलर एवं जुंग ने क्या लिखा है से भी अवगत नहीं हैं। उन्हें संसार की बुराईयों का उपचार करने वाली किसी सामाजिक–आर्थिक एवं राजनैतिक विचारधारा उदाहरणतः साम्यवाद या मार्क्सवाद में भी आस्था नहीं है। मानवीय दुखों की समस्या के समाधान के रूप में सभी तन्त्रों एवं राजनैतिक संस्थाओं को वे वास्तव में अप्रासंगिक मानते हैं।

कृष्णमूर्ति सभी भूत कालीन आप्तसत्ताओं, भविष्यत् आदर्श राज्यों एवं विचारधाराओं को अस्वीकार करने के बाद अपने समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे चाहते हैं कि उनके सन्देश को आप्तवचन रूप में स्वीकार न करके उसे अपने स्वयं के अनुभव का विषय बनाकर उसकी परीक्षा की जाये। प्रत्येक व्यक्ति को अपने वैयक्तिक अनुभव के द्वारा अपने लिये सत्य का दर्शन करना है। उनका प्रमुख मत यह है कि जब हम सत्य के बारे में जैसा वह है से अवगत हो जायेंगे तब हम उसे समझने लगेंगे और समग्र-बोध की इस प्रक्रिया में ही हम स्वतंत्र हो जाते है। जे. कृष्णमूर्ति इस बात को इस प्रकार कहते है : "क्या है के ज्ञान के द्वारा विवेक आता है। निन्दा या औचित्यीकरण किये बिना सत् क्या है, यथार्थ क्या है को ठीक ठीक जानने से निश्चित ही प्रज्ञा का प्रारम्भ होता है।"[4] पुनश्च "– – – –अगर हम देखें, निरीक्षण करें, सुनें, क्या है के बारे में जाने, निश्चित ही तब समस्या का समाधान होता है।"[5] पुनश्चः यह बोध कि कोई क्या है अथवा यह स्वीकार कि कोई क्या है समझ का आरम्भ है जो आपको काल से मुक्त कर देता है।"[6]

कृष्णमूर्ति कह रहे हैं वह यह है कि हमें भीतरी और बाहरी सत् को बिना खण्डन मण्डन एवं तादात्मीकरण के समझना है। यह सत् स्थिर नहीं है। यह निरन्तर प्रवाहमान है यह प्रत्येक क्षण बदलता रहता है। स्थिर मन भूत–काल, संचित ज्ञान एवं विश्वास से बंधा होता है अतः इस सत् के त्वरित प्रवाह को नहीं समझ सकता। अतः वे इस प्रकार के सभी अनुबन्धनों एवं आदत–जन्य प्रत्यक्ष के पर्यायों को अपूर्ण एवं व्यर्थ मानकर अस्वीकार करते हैं। अतः उनकी गत अनुभवों, नियत पाठों (Memory books) गुरुओं एवं नेताओं से प्राप्त ज्ञान में कोई आस्था नहीं है। क्या उस स्थिति जिसे वे विकल्पहीन–बोध (Choiceless Awareness) कहते हैं को प्राप्त करने के अनुशाषन की कोई विधा या पद्धति है? इस का उत्तर वे स्पष्ट रूप से नकारात्मक रूप में देते हैं। स्वतंत्रता, सहजता एवं सर्जनात्मकता को वे सप्रयास अनुशाषन जैसे कि, एकाग्रता या योग के सभी प्रकारों से पूर्णतः विपरीत मानते हैं। सत् की समझ के लिये तीव्र बुद्धि आवश्यक होती है जो निष्क्रिय सचेष्टता की ऐसी अवस्था में हो कि निरन्तर परिवर्तनशील वास्तविकता का निरीक्षण कर सके। इस प्रकार के बोध के लिये किसी कालबधि की आवश्यकता नहीं होती। यह काल में करने की वस्तु नहीं है। इसे आने वाले कल में प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का चुनाव रहित बोध एवं फलस्वरूप व्यक्ति का आमूल–रूपान्तरण केवल तात्कालिक वर्तमान में ही सम्भव हो सकता है। यह आमूल रूपान्तरण अब अर्थात् वर्तमान में ही होता है दूरस्थ भविष्य में नहीं। इसी को स्पष्ट

करते हुए कृष्णमूर्ति कहते हैं "जब यह आमूल रूपान्तरण होता है तब आपके पास कोई भी समस्या नहीं होती क्योंकि तब आत्म स्वयं के बारे में चिन्तित नहीं होता, तब आप संहार की लहर के परे होते हैं।"[7]

मानव दुख से सम्बन्धित पूर्व में उठाई गई व्यापक समीक्षा का कृष्णमूर्ति द्वारा दिये समाधान का परीक्षण करने से पूर्व हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि निरन्तर गतिशील सत् से उनका क्या आशय है? उन्होंने अपने भाषणों में सदैव इस बात पर जोर दिया कि किसी व्यक्ति की सत्ता या होने का तात्पर्य है प्रकृति एवं समाज के अन्य व्यक्तियों, जैसे कि स्वय की पत्नी, बच्चे, पड़ौसी आदि से सम्बन्धित होना या अपने आपको जोड़ना। जब तक व्यक्ति स्वंय को अन्यों के संदर्भ में नहीं समझता समाज को नहीं बदला जा सकता। कोई भी सामाजिक व्यवस्था या तन्त्र चाहे वह वामपथी हो या दक्षिण पंथी मनुष्य को नहीं बदल सकती। केवल मनुष्य ही आत्मबोध द्वारा तन्त्र या व्यवस्था को बदल सकता है। अतः वास्तविक रूपान्तरण बाह्य नहीं है बल्कि यह जो है का विकल्पहीन-बोध द्वारा लाया गया आमूल आन्तरिक रूपान्तरण है। इस विशुद्ध बोध की स्थिति में व्यक्ति आत्यन्तिक स्वतंत्रता एवं रचनात्मक-शून्यता का अनुभव करता है। परन्तु रचनात्मक-शून्यता क्या है? रचनात्मक शून्यता के प्रत्यय को समझने के लिये सम्पूर्ण विश्वासों, ज्ञान, स्मृतियों, अनुभवों, आशाओं विफलताओं, पश्चातापों एवं चिन्ताओं से युक्त मनोवज्ञानिक आत्म (मुझको) का कृष्णमूर्ति द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण से पूर्व परिचय होना चाहिये। कृष्णमूर्ति किसी स्थायी अतीन्द्रिय सत्ता जैसे कि आत्मन् की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि स्थायी आत्मा की अवधारणा में विश्वास, भय एवं चिन्ता से उत्पन्न सतत् अन्वेषण एवं सुरक्षा की आवश्यकता का परिणाम है। निरन्तर बदलने वाला एवं गतिशील सत् स्थिरता एवं सुरक्षा की हमारी लालसा को विफल करता है। अतः व्यक्ति अभिलाषा, कल्पित–चिन्तन (दिवा स्वप्न) में रस लेने लगता है और कल्पना करता है कि इस परिवर्तनशील सत् के मूल में कोई स्थायी सत्ता जैसे कि आत्मन, ईश्वर या ब्रह म है। वह इस प्रक्षेपित स्थायी सत्ता से अपने को अनन्य मान लेता है। व्यक्तियों एवं जगत की वस्तुओं के साथ विभिन्न प्रकार के तादात्मीकरणों के रूप में वह बहाने खोजता है। वह जिसे सांसारिकता कहते हैं में लिप्त हो जाता है। लेकिन व्यक्तियों एव भौतिक संचयन से इस प्रकार के ये लगाव मनोवैज्ञानिक सुरक्षा जिसकी उसे तलाश है नहीं दे सकते क्योंकि जसा कि बुद्ध एवं कृष्णमूर्ति ने सही निर्दिष्ट किया है कि कुछ भी स्थायी नहीं है।

वस्तुओं एवं व्यक्तियों को स्थायी मानकर उनसे लगाव शीघ्र ही विफलता चिन्ता एवं परिणाम स्वरूप दुख प्रदान करता है। इस दुख को जीतने के लिये वस्तुएें जैसी हैं उसी रूप में समझना है तथा तात्कालिक एवं अपरोक्ष प्रत्यक्ष में सत् का बोध होना है। इस प्रकार की विकल्पहीन बोध प्रक्रिया अतीन्द्रिय स्थिति एव परम स्वतंत्रता की ओर ले जाती है जिसे कृष्णमूर्ति 'रचनात्मक शून्यता' कहते हैं। इस शून्यता की स्थिति में विचार, स्मृति, विश्वास, आशा, आकांक्षा, डर, चिन्ता आदि कुछ भी मनस की अन्तर्वस्तु के रूप में नहीं रहता। यह शुद्ध अन्तर्वस्तु रहित बोध है। कृष्णमूर्ति का मानना है कि साधारण मनस जो भूतकालीन स्मृतियों से आच्छादित रहता है उसे रचनात्मक शून्यता का अनुभव नहीं हो सकता है। एक विचार और दूसरे विचार के बीच अन्तराल है और यह अन्तर्वस्तु रहित अवस्था ही आमूल रूपान्तरण लाती है। यह स्थिति मात्र अवस्तुता की स्थिति नहीं है। यह रचनात्मक सत् है, केवल इसके द्वारा ही व्यक्ति ईश्वर, वास्तविक स्वतंत्रता और दुर्लभवस्तु जिसे प्रेम कहते हैं की अनुभूति करता है। यह स्थिति रचनात्मक इसलिये कही जाती है क्योंकि यही व्यक्ति का आमूल रूपान्तरण करती है, उसके दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाती है और अपनी अविचलित शान्ति में व्यक्ति को प्रेम का अनुभव कराने में समर्थ बनाती है जो न वैयक्तिक होता है और न अवैयक्तिक। इस प्रकार का प्रेम कालातीत नित्य एवं अपरिमेय होता है। जब प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार की अविचलित शान्ति, प्रज्ञा एवं प्रेम की अवस्था को प्राप्त कर लेगा तब ही वास्तविक रूपान्तरण होगा और तब ही जगत के क्रियाकलापों में समानान्तर परिवर्तन होगा। कृष्णमूर्ति के शब्दों में "रचनात्मकता एक अवस्था है जिसमें आत्म अनुपस्थित रहता है, जिसमें मनस हमारे अनुभवों, हमारी महत्वाकाक्षांओं लक्ष्यों एवं हमारी इच्छाओं का केन्द्र बिन्दु नहीं रहता। रचनात्मकता एक सतत् अवस्था नहीं है यह प्रत्येक क्षण नहीं होती है, यह एक गति है जिसमें मुझको और मेरा नहीं होगा, जिसमें विचार किसी विशिष्ट अनुभव महत्वाकांक्षा, उपलब्धि, उद्देश्य, एव प्रेरणा पर केन्द्रित नहीं होता। केवल जब आत्मा नहीं होती तब ही रचनात्मकता-सत्ता या भाव की वह स्थिति है जिसमें ही केवल सत् जो सब वस्तुओं का रचनाकार है हो सकता है-होती है।"[8]

दूसरे शब्दों में, रचनात्मक शून्यता की यह अवस्था आत्म शून्यत्व, इच्छा रहितता एवं परम-स्वतंत्रता की वह शान्त अवस्था है जिसे ऐतिहासिक बुद्ध ने निर्वाण कहा। फिर भी ऐतिहासिक बुद्ध और कृष्णमुर्ति में से कोई भी भौतिक आवश्यकताओं-भोजन, वस्त्र एवं आवास की संतुष्टि को अस्वीकार

नहीं करता। जिस बात का वे दोनों समर्थन करते हैं वह है मूर्खतापूर्ण लालसाओं, उत्कण्ठाओं एवं अतृप्त इच्छाओं से युक्त अहम् पर विजय पाना। दोनों की दृष्टि से बन्धन, वेदना एवं दुख का मूल कारण अविद्या है जो लालसा इच्छुकता, आसक्ति, मानसिक विफलता एवं दुख को ओर ले जाती है। अतः गहन विवेक से उत्पन्न प्रज्ञा ही परम् स्वतत्रता की ओर ले जा सकती है। रचनात्मक–शून्यता को इस अवस्था का व्यावहारिक परिणाम होगा प्रेम या करुणा जैसा कि बुद्ध ने निर्दिष्ट किया है।

क्या कृष्णमूर्ति ईश्वर परलोक एवं पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं? इन बिन्दुओं पर भी उनका अभिमत कुछ सीमा तक बुद्ध के समान ही था। जब कोई बुद्ध के समक्ष इस प्रकार के तत्त्वमीमांसायी प्रश्न उठाता तो बुद्ध जानबूझ कर मौन रहते क्योंकि वे विवेक एवं नैतिक अनुशासन द्वारा मानव दुखों पर काबू पाने की तात्कालिक समस्या का सामना कर रहे थे। कृष्णमूर्ति इन प्रश्नों का प्रत्यक्षरूप से उत्तर न देकर इस बात की परीक्षा करते हैं कि मनुष्य, ईश्वर अमरता एवं पुनर्जन्म में विश्वास क्यों करता है? उनका उत्तर है कि इस प्रकार के निरपेक्ष सतों में विश्वास निरन्तर परिवर्तनशील और निश्चय ही जिसमें सब कुछ अनिश्चित है ऐसे जगत में हमारे मन में गहरे पैठी हुई सुरक्षा और निश्चितता की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता का परिणाम है। अगर मनुष्य को इनमें विश्वास नहीं होता तो वह अलग-थलग पड़ जाता और उसे स्नायविक दुश्चिन्ता भुगनी पड़ती। निश्चय ही, कृष्णमूर्ति यह निर्दिष्ट करते हैं कि "रचनात्मक शून्यता" को विशुद्ध प्रेम या आनन्दमय ईश्वर-अनुभव कह सकते हैं। तो भी, जो मुख्य विषय है वह है साक्षात् अनुभव। ईश्वर, आत्मन्, ब्रह्मन्, आदि प्रत्यय ऐसे प्रतीक हैं जिन्हें मनस उस साक्षात अनुभव को व्यक्त करने के लिये रचता है। कृष्णमूर्ति बार बार इस बात पर जोर देते हैं कि "वर्तमान में, क्षण-क्षण में नवीन और नित्य की खोज के लिये असाधारण रूप से सजग मनस-ऐसा मनस जो कुछ पाने की इच्छा ही रखता है-को आवश्यकता होती है।" पुनः, जो क्षण में होता है वह सत्य है एवं जो सुख जारी रहता है वह सुख नहीं होता। सुख, होने की वह अवस्था है जो कालातीत है।"[10]

वे बताते हैं कि सत् को क्षण-क्षण में "मुस्कराहट में, आंसू में, सूखी पत्ती में, आते-जाते विचारों में और प्रेम की परिपूर्णता में पाया जा सकता है। वे प्रेम और सत्य को एक ही मान लेते हैं अर्थात् एक स्थिति जिसमें विचार अपने सामयिक आयाम के साथ पूरी तरह से समाप्त हो जाता है और उनके अनुसार

यह आमूल रूप परिवर्तन और मौलिक क्रान्ति है। कृष्णमूर्ति विचार और मेधा में अन्तर करते हैं। लन्दन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डेविड बोम के साथ एक प्रसिद्ध वार्तालाप में उन्होंने बताया कि विचार यंत्रवत, भूतकाल से सम्बद्ध और समय क्रम में होता है। परन्तु मेधा एक भिन्न स्तर और गुण की वस्तु है। और फिर भी वे मानते हैं कि पदार्थ, विचार और मेधा का स्रोत एक ही है, वे एक ही ऊर्जा हैं। विचार सुरक्षा और जीवन के लक्ष्यों के निमित्त होता है, जबकि मेधा निर्विषयक बोध अवस्था होती है अर्थात् वह रचनात्मक शून्यता है जो कि अन्तिम स्वतंत्रता होती है। यदि कृष्णमूर्ति यहां यह स्वीकार करते हैं कि जो कुछ भी है, उसका एक ही अन्तिम स्रोत है तो क्या उनकी स्थिति उपनिषदों के समीप नहीं पहुंचती जिन्होंने ऐसे स्रोत को ब्रह्मन् बताया है। आदिम स्रोत के विषय में बात करते हुए वे वस्तुतः इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

अब हम कुछ आलोचनात्मक प्रश्न उठाते हैं। क्या मानवता के सामने वैयक्तिक या सामाजिक स्तर पर जो कठिन समस्याएं हैं उनमें कृष्णमूर्ति ने प्रवेश किया है? न्यूयॉर्क सिटी के कारनेगी हाल में, हाल ही में दिये गये एक प्रवचन में उन्होंने यह स्वीकार कर लिया बताते हैं कि उनका प्रभाव बहुत कम रहा है। विश्व की समस्याएं आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधिक तीव्र हो गई हैं और ऊष्मा–नाभिकीय युद्ध के कारण सम्पूर्ण विनाश का भय क्षितिज पर सघन होता जा रहा है। परिणामतः व्यक्तियों के दुख और चिन्ताएं बढ़ गई हैं और ये चिन्ताएं वास्तविक हैं। कृष्णमूर्ति का हल क्या है? वे राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी प्रकार की प्रणालियों, संगठनों और विचारों के विरुद्ध हैं। उनके विचार से सामाजिक संस्थाओं को बदलने के स्थान पर हमें आरम्भ व्यक्ति से ही करना चाहिये जिससे कि 'विकल्पहीन बोध', 'रचनात्मक शून्यता' और 'प्रेम' के माध्यम से मौलिक रूप परिवर्तन करना है। वैयक्तिक रूपान्तरण पर यह बल इस मत का प्रत्यक्ष विरोध करता है कि 'होना' जिसका अर्थ है कि बिना सामाजिक सम्बन्धों से जुड़े हुए व्यक्ति एक अलगाव मात्र है। कोई भी व्यक्ति शून्य में नहीं रहता और यह समझना कि बिना सामाजिक संस्थानों में परिवर्तन लाये समग्र अभिज्ञान एवं समझ के कार्यों द्वारा ही दृष्टि में मौलिक परिवर्तन सम्भव है, एक रोमान्टिक कल्पना है। यह भोलापन, सरलीकरण एवं आदर्शवाद है। क्या बेरोजगारी, जनसंख्या वृद्धि, दौड़ती हुई तकनीक के कारण पर्यावरण का नाश, युद्ध, गरीबी, गंदगी और अशिक्षा की समस्याएं बिना सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं में समुचित परिवर्तन लाये केवल वैयक्तिक रूप परिवर्तन की

आवश्यकता पर प्रवचन से सुलझ सकती हैं ? यदि ऐसा होना संभव होता तो पिछली आधी शताब्दी से दिये जाते रहने वाले भाषण अबतक स्वर्णयुग का सूत्र-पात कर देते । हाँ यदि प्रत्येक व्यक्ति सद्‌गुणी, आत्मदर्शी तथा आत्मप्रबुद्ध और 'रचनात्मक शून्यता' की स्थिति में होता तो चारों ओर प्रेम होता और यह वस्तुतः सन्तों का समाज होता। परन्तु यह एक बड़ा यदि है। ऐसी भावातीत एकान्तता आदर्श लोक का दूसरा रूप है। यद्यपि कृष्णमूर्ति ने सब प्रकार के आदर्श लोक की भर्त्सना की है, वे यह नहीं देख पाये हैं कि रचनात्मक शून्यता वाला उनका यह हल वास्तव में बिना सृजनात्मक हुए कोश। शून्य है। कोई आश्चर्य नहीं है कि वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर दुख अभी भी विद्यमान है। वे भूल जाते हैं कि आत्म-बोध जो कुछ है उसकी पूर्ण समझ एवं सृजनात्मक स्वतंत्रता में न्यूनतम आर्थिक स्वतंत्रता और स्थायित्व पूर्वा-पेक्षित है जिसके बिना इस तरह की सारी बात अर्थहीन है। भूखे आदमी के लिये विकल्पहीन-बोध और सृजनात्मक–स्वतंत्रता का संदेश निरर्थक आलाप है।

जब उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि उनके भाषणों का विश्व की समस्याओं के समाधान की दिशा में कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा तो उन्होंने अपने संदेश पर पुनरावलोकन कर उन समस्याओं के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन क्यों नहीं किया ? दूसरे शब्दों में, वे अलग क्यों बैठे रहे और व्यावहारिक साधनों के माध्यम से वांछनीय सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्रिय रूप से जुड़ क्यों नहीं गये ? क्या ऐसा इस कारण से हुआ कि वास्तविक विश्व उन जैसे बुद्धिजीवी के लिये अत्यन्त कठोर एवं झमेले वाला है जहां उन्हें जनसाधारण के साथ कंधा मिला कर चलना होगा। निष्क्रिय-सचेतता के गुणों की मात्र प्रशंसा करना व्यक्ति को दर्शक और केवल स्वप्न द्रष्टा बना देता है। यहां मुझे वाल्टेयर की याद आती है जिसने कहा बताते हैं कि "मैं जन साधारण से प्रेम करता हूं मगर दूर से"। यद्यपि कृष्णमूर्ति अधिकारी विचारकों के उद्धरण देना पसंद नहीं करते तथा वे अपने श्रोताओं को बार बार कहते रहते थे कि वे पुस्तकें नहीं पढ़ते, मैं मार्क्स को उद्‌धृत किये बिना नहीं रह सकता जिसने कहा था कि "दार्शनिकों ने विश्व की केवल व्याख्या की है परन्तु समस्या तो उसे बदलने की है।" इस स्थान पर कृष्णमूर्ति महात्मा गांधी के स्पष्ट रूप से विरुद्ध दिखाई देते हैं जिन्होंने न केवल वयक्तिक दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन पर बल्कि सामाजिक-आर्थिक संगठन में समानान्तर परिवर्तन पर भी जोर दिया था। महात्मा गांधी ने अनुभव किया कि यदि हम इस बाद की बात की अवहेलना करें तब कुछ व्यक्तिविशेष तो 'रचनात्मक शून्यता' और 'विकल्पहीन

बोध' का अभ्यास कर लेंगे तो खाली स्थान पर कुटिल लोग आ जायेंगे और विश्व का संचालन करेंगे। जब साधु-संत "भावातीत स्वतंत्रता" में व्यस्त रहेंगे तो पापी दुनियां की व्यवस्था को हथियालेंगे और उस पर शासन करेंगे। नैतिक ईमानदारी और प्रभावी संगठित सामाजिक कार्य के सम्मिश्रण से ही महात्मा गांधी को बलशाली ब्रिटिश साम्राज्य को निकाल बाहर करने में जैसी भी थी सफलता मिली। कृष्णमूर्ति ने सिक्के के एक ही पहलु अर्थात् व्यक्ति के रूप परिवर्तन पर, बिना सामाजिक आर्थिक संगठन में समानान्तर परिवर्तन लाने के कार्यक्रम पर जोर दिया है।

दूसरे, "विकल्पहीन बोध" के माध्यम से वैयक्तिक दुख पर विजय पाने के उनके संदेश का मूल्यांकन भी आवश्यक है। यह ठीक है कि भय, क्रोध, चिन्ता, द्वेष या लोलुपता की मनोवैज्ञानिक समस्या के हल के लिये उस (समस्या) को समझ के स्तर तक लाना पड़ता है। यह एक आवश्यक शर्त है और कृष्णमूर्ति ने उस पर ठीक ही जोर दिया है। परन्तु वे यह समझने में विफल रहे हैं कि ऐसा करना ही पर्याप्त नहीं है। अपने दुख से अवगत होने मात्र से ही उसकी समाप्ति स्वतः नहीं हो जाती। बुद्ध का यह कहना सही था कि निरन्तर-मानसिक चौकसी के साथ साथ हमें हानिकारक प्रवृत्तियों के स्थान पर प्रेम, सहानुभूति, करुणा को प्रतिस्थापित करने के लिये नैतिक कार्यों द्वारा निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये। पिछले अनुभवों, स्मृतियों और आदतों पर आश्रित रहने की कृष्णमूर्ति ने उन बाधाओं के रूप में भर्त्सना की है जो शुद्ध बोध और "रचनात्मक शून्यता" की प्राप्ति के बीच आती हैं। यहां भी वे दृढ़ धरातल पर नहीं हैं। वर्तमान समस्या को समझने के लिये पूर्व संचित अनुभवों का सदैव ही बाधक होना आवश्यक नहीं है। यदि उनका उपयोग बिना किसी झुकाव या पूर्वाग्रह के किया जाय तो वे समस्या को न केवल समझने में बल्कि व्यावहारिक हल सुझाने में भी बहुत सहायक होंगे। यदि हम सत्कार्य करने का स्वभाव नहीं बनायंगे तो हमारे सामने हर बार लालच और उसके सामने झुक जाने का खतरा आता रहेगा। अतएव, सब तरह की आदतों का समर्थन नहीं किया जा सकता। नई समस्याओं का सामना करने में सही प्रकार की आदत बनाने से ही समुचित मात्रा में स्वतंत्रता मिल सकती है।

तीसरे, कृष्णमूर्ति का 'रचनात्मक शून्यता' का विचार खोखला है। चिन्ता या अहम् जेसा कि हम उसे समझते हैं एक नैरंतरिकता है और कृष्णमूर्ति इसे समझते हैं। अपनी स्मृतियों और अनुभवों के साथ भूत, वर्तमान के साथ ऐकाकार हो जाता है और दोनों प्रक्षेपित भविष्य के साथ मिलकर मन अथवा

अनुभव सिद्ध अहम् बन जाते हैं। कृष्णमूर्ति जो कहते हैं वह यह है कि ऐसा मन यंत्रवत है और अहम् प्रतीकों के प्रयोग के माध्यम से सम्भव एक सरचना है। क्रोध, भय, द्वेष या लोलुपता के तात्कालिक अनुभव मात्र में दृष्टा (मैं) और अन्तर्वस्तु के रूप में दृष्ट के बीच कोई भेद नहीं रहता। निश्चित ही ऐसे अनुभव के क्षण में इस प्रकार की कोई दुविधा नहीं होती। यह अनुभव होने की स्थिति है। परन्तु कुछ ही क्षण बाद हमें हमारे क्रोध, भय या लिप्सा के प्रतिवर्ती रूप का बोध होने लगता है। इसका अर्थ यह है कि बोध की क्रिया का विषय अनुभव का वह पक्ष है जो बीत चुका है। मनोवैज्ञानिक शब्दों में किसी मानसिक स्थिति का बोध होने पर उस स्थिति का स्थान दूसरी स्थिति ले लेती है। अपने क्रोध के विषय में बोध होने का अर्थ क्रुद्ध होना नहीं है क्योंकि क्रोध की वह स्थिति बीत चुकी होती है और क्षण बाद ही स्मरण के रूप में उसका पुनः स्मरण होता है। क्रोधित होने के साथ-साथ उससे अवगत होना मनोवैज्ञानिक रूप से असंभव है यदि ऐसा है तो शुद्ध निर्विकल्प विषयक कृष्णमूर्ति का विचार क्रोध, भय, विद्वेष इत्यादि जैसी किसी अन्तर्वस्तु की ओर इंगित नहीं करता और वे ऐसा कहते भी हैं। वह स्थिति दो मानसिक अन्तर्वस्तुओं के मध्य की रिक्तता है और इसी को वे 'रचनात्मक शून्यता' कहते हैं। वह अवस्था शुद्ध रिक्तता है तो उसका बोध कैसे होता है? रिक्तता का बोध होना, उसके घटित होने के क्षण ही उसका अनुभव करना और इस प्रकार उसे अन्तर्वस्तु बनाना है। उसके पश्चात् वह रिक्तता नहीं रहती। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की रिक्तता या 'रचनात्मक शून्यता' एक कल्पना है। बहुत समय पूर्व विलियम जेम्स ने बताया था कि अनुपस्थिति की भावना और भावना की अनुपस्थिति एक ही बात नहीं हैं। दूसरे शब्दों में, अनुभव तो एक नैरंतरिकता है और जिन्हें रिक्तता कहा जाता है वे अस्पष्ट रूप से अनुभव ही हैं जैसेकि सांस लेना जो कि अवधान का विषय नहीं है। कृष्णमूर्ति सावधान चेतना के इस अभाव को सम्पूर्ण रिक्तता की मानसिक स्थितियों के बीच भेद नहीं देख पाते। चूंकि ऐसी स्थिति चेतन स्थिति की पकड़ ढीली कर देती है, वह उस क्षण स्वतंत्रता की अनुभूति देती है। कृष्णमूर्ति सोचते हैं कि 'रचनात्मक शून्यता' के क्षण और स्वतंत्रता हमारे दुख और चिन्ता की समस्या को हल कर सकती है। परन्तु वे अस्थायी शुषुप्त स्थितियाँ हैं जिनसे हम वास्तविक समस्याओं की कठोरता के द्वारा शीघ्र ही झकझोर कर जगा दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ, मानलो कि एक व्यक्ति की नौकरी चली गई और वह अपने परिवार और बच्चों के पालन-पोषण, भोजन की स्नायुविक चिन्ता से ग्रस्त है। यदि वह कृष्णमूर्ति की सलाह मानकर इस चिन्ता से अवगत हो जाये और संयोगवश 'रचनात्मक शून्यता' की स्थिति को प्राप्त हो जाय तो क्या इससे उसकी समस्या

हल हो जायेगी ? यदि परिस्थितिवश 'शून्यता' की ऐसी स्थिति विकल्पहीन-बोध' के द्वारा प्राप्त हो सकती हो तो यह क्षणिक पलायन ही है और भूखे बच्चों का रुदन, उपभोक्ता कम्पनियों के यहां से टेलिफोन और उसकी पत्नी को शिकायत करती सूरत उसे संसार की कठोर वास्तविकताओं का सामना करने के लिये झकझोर देती है। ऐसी 'रचनात्मक शून्यता', की स्वतः प्रवृत्त स्थितियों से समस्याएँ हटाई नहीं जा सकती।

इसके अतिरिक्त किसी मनोवैज्ञानिक समस्या जैसे चिन्ता से अवगत होने मात्र का अर्थ उसे समझना नहीं है। क्या मैं अपनी चिन्ता की स्थिति को निष्क्रिय रूप से देखते रहने से उसको समझ लेता हूं। चिन्ता की उस स्थित को समझने के लिये मुझे उससे न केवल अवगत होना होगा परन्तु मेरे पिछले अनुभवों तथा वर्तमान परिस्थितियों से उसके कारणों व निर्बन्धनों का विश्लेषण करना होगा। ऐसा कर चुकने पर मुझे उन कारणों और निर्बन्धनों के निवारण के लिये समुचित साधनों के विषय में सोचना और उन्हें काम में लेना होगा। केवल तभी चिन्ता पर विजय पाई जा सकेगी। यदि मैं चिन्ता का सामना करने के लिये उतनी मनोवैज्ञानिक ऊर्जा एकत्रित नहीं कर सकता तो मुझे किसी ऐसे समर्थ व्यक्ति की सहायता लेनी होगी जो इस प्रकार आत्म-विश्लेषण और चिन्ता की उस स्थिति पर विजय पाने के कार्य में मेरी सहायता कर सके। किर्केगार्ड ने ठीक ही बताया कि हम रहते तो भविष्य में हैं परन्तु समझते भूत में हैं। किसी घटना- भौतिक या मनसिक-को समझ सकना उसकी कारण सम्बन्धी दशाओं और परिणामों को जानना है। मात्र बोध, प्रक्रिया में पहला कदम है। अन्ततः औचित्य, भर्त्सना और पहचान के बिना यह "निर्विकल्प बोध" है क्या ? यदि उसका अर्थ किसी मनोवैज्ञानिक स्थिति को तटस्थता के साथ देखना मात्र है तो हमारा इससे कोई झगड़ा नहीं। परन्तु यह नहीं भूल जाना चाहिये कि तटस्थता तो अंशों का मामला है और पूर्व अनुभवों से प्राप्त पूर्वाग्रह से पूर्णतः मुक्ति ऐसा आदर्श है जहां तक शायद ही पहुंचा जा सकता है। भूतकाल की स्मृतियों और अनुभवों द्वारा प्रदत्त तारतम्यता के बिना हमारा मन अब और अब की श्रृंखलाक्रम में एक क्षण से दूसरे क्षण में फुदकता रहता है। कृष्णमूर्ति ऐसे असम्बद्ध अब और अब के प्रति इतने आसक्त हैं कि वे भूल जाते हैं कि हमारे पूर्व संचित अनुभवों द्वारा प्रदत्त तारतम्यता सदैव मन को व्यर्थ की बातों से सदैव ही बोझिल नहीं बनाती। यदि ठीक तरह से समझा जाय तो हमारे पूर्वानुभव हमें अपेक्षित पृष्ठभूमि प्रदान कर सकते हैं जो हमारे वर्तमान को बोधगम्य बना दे।

संक्षेप में, कृष्णामूर्ति द्वारा "विकल्पहीन बोध" "रचनात्मक शून्यता" और "मौलिक स्वतत्रता" पर जोर देना सृजनात्मक क्रिया की आवश्यक शर्तों के रूप में निर्ग्रन्धता और निसंगता कहने का केवल नाटकीय ढग है। उनके उपदेशों में यह सत्य का तत्त्व है परन्तु स्वतंत्र होने का अर्थ केवल "रचनात्मक शून्यता" की स्थिति में रहना ही नहीं है। स्वतंत्रता के सम्बन्ध में ऐसा कल्पनामय विचार रखना मनुष्य की भौतिक, जीव विज्ञान सम्बन्धी और सामाजिक, एतिहासिक आधार–भूत मूल की अवज्ञा करना है। मनुष्य की स्वतंत्रता इस अर्थ में वास्तविक सम्भावना है कि वह अपनी स्थिति और अपने अतीत के विषय में चिन्तनात्मक रूप में अवगत हो सकता है और तब अपनी सीमाओं पर विजय पाने के लिये उसके संसाधनों को जोड़कर सृजनात्मक तरोके से कार्य कर सकता है। वरण की प्रत्येक ऐसी वास्तविक क्रिया ही वास्तविक जगत में स्वतंत्रता का एकमात्र समर्थनीय अर्थ है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां :

* मॉन्ट्रियल कनाडा में 22 अगस्त 1983 को हुई सत्रहवीं वर्ल्ड कांग्रेस ऑव फिलॉसफी में इसी विषय पर प्रस्तुत मेरे लेख का यह विस्तृत एवं संशोधित रूपान्तरण है।

1. मेरी लुटयेन्स ने "कृष्णमूर्तिज़ नोट बुक" के अपने प्राक्कथन में निर्दिष्ट किया है कि सन् 1922 में कृष्णमृति 28 वर्ष की आयु में आध्यात्मिक अनुभव से गुजरे जिसने उनके जीवन को परिवर्तित कर दिया और इसके बाद उनके सिर एवं मेरु-दण्ड में उन्हें तीव्र एवं प्राय: निरंतर पीड़ा हुई। कृष्णमूर्ति ने अपनी नोट बुक में अपनी पीड़ा को 'विशिष्ट प्रक्रिया' (The Process) के रूप में निर्दिष्ट किया है।

2. जे. कृष्णामूर्ति के भाषण, वार्ताएं एवं प्रश्नोत्तर–सत्र बीसियों पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। हार्पर एवं रो ने कई पेपर बैक संस्करण प्रकाशित किये हैं। यद्यपि विचारावृत्ति की उन्होंने भर्त्सना की है लेकिन उनके मूल विचारों की पुनरावृत्ति इन रचनाओं में दिखाई देती है। विभिन्न समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण सदैव अभिनव और मौलिक रहा है। इनकी कुछ प्रमुख पुस्तकें हैं : **दी फर्स्ट एण्ड लास्टफ्रीडम**', न्यूयॉर्क हार्पर एण्ड रो 1975 (इसपुस्तक का प्रथम प्रकाशन 1954 में) **दि अवेकिनंग ऑव दि इन्टैलीजैन्स** एच एण्ड आर 1973; **एक्सप्लोरेशन्स इन टू इनसाइट**, एच एण्ड आर 1980; **ट्रुथ एण्ड एक्च्युअलिटि**

एच एण्ड आर 1980; **दि इम्पॉसिबिल कॉश्चन्स** एच एण्ड आर 1972; **दिप-लाइट ऑव ईगल**, एच एण्ड आर 1972; **थिंक ऑन दीज थिंग्स** एच एण्ड आर 1970; **कृष्णमूर्तिज नोट बुक** एच एण्ड आर 1981; **दि होलनैस आफ लाइफ** एच एण्ड आर 1981; **फ्रीडम फ्रॉम दि नोन** एच एण्ड आर 1975.

3. दि फर्स्ट एण्ड लास्ट फ्रीडम, न्यूयॉर्क, हार्पर एण्ड रो 1975 पृ. सं. 21-22
4. वही, पृ. सं. 20
5. वही, पृ. सं. 20
6. वही, पृ. सं. 20
7. वही, पृ. सं. 27
8. वही, पृ. सं. 48
9. वही, पृ. सं. 287
10. वही, पृ. सं. 287
11. वही, पृ. सं. 287
12. **दि अवेकिंग ऑव इन्टैलीजैन्स** न्यूयॉर्क, हार्पर एण्ड रो, 1973, पृ. 528

विकास की धारणा का विकास*

रूफी

किसी व्यक्ति के लिए यह कहना सहज है कि आगामी पन्द्रह वर्षों में हम इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करेंगे और ठीक उसी समय एक नयी सहस्त्राब्दी का पदार्पण होगा जो ईसा के जन्म से तीसरी सहस्त्राब्दी होगी। कैलेण्डर के निर्माण के साथ ही हम पर तारीखें लागू होती हैं, जिनका प्रायः सांकेतिक मूल्य होता है। हम नूतन वर्ष को आशाओं से परिपूर्ण, आनन्द दायक पर्व के रूप में मनाते हैं। हम अपने रिश्तेदारों और दोस्तों के साथ समृद्धि, स्वास्थ्य तथा हर्ष की कामनाओं का विनिमय करते हैं। इतना ही नहीं,नव वर्ष व्यतीत वर्ष का क्षण भर ठहरकर अवलोकन करने तथा समीक्षा करने का भी अवसर होता है।

1000 ईसवी से 19 वीं शताब्दी तक बिल्कुल ही प्रायः नगण्य, परिवर्तन हुआ। यूरोप एक ऐसी अन्तहीन निद्रा में सोया हुआ प्रतीत हुआ जिसे पुनर्जागरण भी जगाने में सक्षम नहीं दिखाई दिया। हिप्पोक्रिटस की प्रेरणा से स्थापित स्कूल ऑफ कॉस के पण्डितों से मॅलियर के पंडितों को कोई भी चीज अलग करती दिखाई नहीं देती, सिवाय उपहास करने और पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन के।

---

* Jacques Ruffie : The Evolution of the Idea of Evolution; **Diogenes,** No. 132, 1985, pp. 80-94.

अनुवाद : डॉ. नरेश प्रसाद तिवारी

18 वीं शताब्दी के अन्त में औद्योगिक क्रान्ति, जिसने स्टीम इंजन को दैनिक व्यवहार के लिये प्रस्तुत किया के साथ प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन आता प्रतीत होता है। अब से मनुष्य यह जानने लगा कि उसके पास एक ऐसी अतुलनीय शक्ति है जिसे अभी तक अपने शारीरिक बल, पालतू पशुओं तथा कृषिकर्मों द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सका था। कुछ कठिन व्यवधान के बाद जिसमें असहाय सर्वहारा-गावों से किसानों का भागकर शहर आना और कारखानों में काम ढूंढ़ना-की उत्पत्ति होती है, निश्चित ही स्वास्थ्य, खाद्य एवं जीवन स्तर में सुधार होता है। और आंकड़ों के अनुसार औसतन रूप में मनुष्य पहले से अधिक उम्र में मृत्यु को प्राप्त होंगे।

फ्रांस में विद्वानों द्वारा चलाये गये जनतांत्रिक आन्दोलन ने, जिसका परिणाम फ्रांस की क्रान्ति में हुआ, यूरोप के सारे पुराने निरंकुश एकछत्र राज्य-तंत्रों को हिला दिया। अमेरिकन संविधान ने अपने को बौद्धिकता तथा मानवता के सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित करने की चेष्टा की और इसमें वह योरप के नये बौद्धिक आन्दोलनों से बहुत प्रभावित हुआ। अविष्कारों और प्रगति तथा मानव में सम्पूर्ण आस्था के इस अनुकूल वातावरण में 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जीवविज्ञान का अद्भुत विकास हुआ। तीस वर्ष से भी कम में, उन तीस वर्षों को जिन्हें जॉन फूरॉस्टे ने **तीस शान दार सालों** की संज्ञा दी है, चार्ल्स डार्विन ने प्राणियों की विभिन्न जातियों के क्रमिक विकास की वास्तविकता को दिखलाया और उसकी एक सुसंगत तार्किक व्याख्या भी की, और इसके परिणाम स्वरूप दृष्टि की ईश्वरीय संरचना के विचार को गहरा आघात पहुंचा। मनुष्य अब ईश्वर का पुत्र न होकर काल व प्राकृतिक चयन की सन्तान के रूप में दिखाई देने लगा। अब हम, अपनी वंशावली में नर बानरों में सर्वोच्च स्थान पर हैं और हमारे ठीक बगल में वनमानुष और गोरिल्ला। इसी के कुछ समय बाद लुई पास्चर ने अनेक रोगों को उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं के अस्तित्व को प्रमाणित किया। इससे उन्होंने दो महत्वपूर्ण उपचार विधियों को निकाला। वे विधियां हैं: **वेक्सिनो थेरेपी** (रोगाणु के आक्रमण के पूर्व ही रोगी को रोगमुक्त करने हेतु टीका देना) तथा **सीरा थेरेपी** (रोग के लक्षणों के विरुद्ध लड़ने के लिये उस रोग के विरोधी जीवाणुओं को उत्पन्न कर रोगी की सहायता करना)। सहज उत्पत्ति पर विश्वास निश्चय ही इसके साथ-समाप्त हो गया। शल्य चिकित्सा में होने वाली प्रायः धातक संक्रामक बीमारियों को दूर करने के लिऐ एसेप्सिस और एन्टीसेप्सिस की अद्भुत प्रगति हुई है।

इन्ही दिनों ब्रनो के चर्च का एक अज्ञात मोराव पादरी ग्रेगर मेंडेल, अपने छोटे से बाग में काम करते हुए आनुवांशिकता के नियम का पता लगा

लेता है। परन्तु वर्तमान शताब्दी के आरम्भ होने तक यह मौलिक नियम अज्ञात ही रहता है। मेंडेल की मृत्यु के ठीक सोलह वर्षों बाद उनका यश फैलता है। अंततः क्लॉड बर्नार्ड आधुनिक शरीर विज्ञान के लिए मनुष्य के शरीर की "आन्तरिक स्थिति" (मुख्यतः रक्त) की समरसता या स्थायित्व को भौतिकी और रसायन शास्त्र के आधार पर प्रमाणित कर मार्ग प्रशस्त करता है। यह स्थायित्व एक सीमा के अन्तर्गत सभी परिवर्तनों को पुनःस्थापित करने वाली विविध नियंत्रित प्रक्रियाओं द्वारा प्राप्त होती है और वास्तव में यह सभी उच्चस्तर के मेरुदण्डीय प्राणियों के लिये सही है। इस प्रकार 19 वीं शताब्दी के अन्त तक चिकित्सा और जीव विज्ञान में काफी तबदीली और उथल-पुथल हुई। भविष्य आशाओं में परिपूर्ण दिखाई पड़ता है। यह कहा नहीं जा सकता कि विज्ञान कहां ले जायेगा।

प्राणिशास्त्र और विभिन्न मानव शास्त्रों में एक नवीन सामंजस्यता

यह प्रगति न केवल तीस वर्षों में, दो हजार वर्षों में हुए ज्ञान के संग्रह को पीछे छोड़ देती है वरन् दैवोज्ञान व आस्था से सम्बद्ध कई निश्चित अखण्डमूल्यों में, यूरोपीय राष्ट्रों के विश्वास पर भी प्रश्न चिन्ह लगाती है। मुख्य रूप से डार्विन ही इस वैचारिक क्रान्ति के लिये उत्तरदायी है।

सदियों से मनुष्य को ईश्वर की रचना माना जाता था। बाइबिल के अनुसार पशु और पौधों की विभिन्न जातियां जिन्हें आज हम देखते हैं वे वसी ही दैवी संकल्प द्वारा ही अस्तित्व में आयी थीं। विभिन्न प्राणियों का अपने वातावरण से जो अद्भुत सम्बन्ध है, उसकी व्याख्या किसी चरम बुद्धि की कल्पना के आधार पर ही किया जा सकता है। क्या मछली अद्भुत तैराक "यंत्र" नहीं है और क्या पक्षी कोई ऐसी 'वस्तु' नहीं है जिसे उड़ने के लिये ही बनाया गया है ? और मेरुदण्डीय एवं अमेरुदण्डीय प्राणियों का उनके परिवेश से जो सम्बन्ध है वह क्या कम आश्चर्यजनक नहीं हैं ? और क्या उन प्राणियों को प्रकृति ने इसके लिये पर्याप्त उपकरण नहीं दिये हैं ? प्रकृति तथा समाज के संबंध में इस प्रकार के सिद्धान्त पर ऐसा लगता था कि कोई प्रश्न नहीं उठा सकता।

स्वयं स्वीडिश वैज्ञानिक लिने, जिसने अठाहरवीं शताब्दी के मध्य में पशु और पौधे दोनों का एक विस्तृत वैज्ञानिक वर्गीकरण तैयार किया था तथा प्रत्येक को अलग से लैटिन नाम देते हुए परिभाषित किया था, इस सम्बद्ध सवाल को उठाया तक नहीं, या कहें तो उसने उसे न उठाना ही बेहतर समझा। वास्तव में, वह एक दूसरे के बहुत करीब प्राणियों की जातियों का वर्गीकरण ही नहीं

करता वरन् उनके बीच निकट का सम्बन्ध भी पाता है, परन्तु फिर भी उसने कहीं भी, यहां तक कि अपने पत्रों में भी नहीं, किसी साधारण विकासात्मक प्रक्रिया का सुझाव दिया। क्या उसने इसकी सम्भावना पर भी कभी विचार किया था ? शायद गैलीलियो के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव को जानकर वह सावधान हो गया था। आज भी प्रत्येक व्यक्ति को याद है कि कॉपरनिकस के सूर्य-केन्द्रीय सिद्धान्त (धर्म ग्रन्थों की मान्यता के विपरीत, पृथ्वी स्थिर सूर्य के चारों ओर घूमती है) की स्थापना करने तथा भू-केन्द्रीय सिद्धान्त (पृथ्वी, जिस पर मानव निवास करता है, सारे विश्व का स्थिर केन्द्र बिन्दु है) के दोष को दिखलाने से, अभागे इटालियन वैज्ञानिक को किस प्रकार ईसाई चर्च के क्रोध को झेलना पड़ा तथा अन्तहीन उत्पीड़न के पश्चात् अपने आखिरी दिन सीमित स्वतंत्रता में बिताने पड़े। दूसरी ओर, फ्रेंच विद्वानों और विशेषकर दीदेरो ने प्रकृति को विकासशीलता कि घोषणा की; जिसके कारण प्राणियों की विभिन्न जातियां क्रमिक रूपान्तरणों द्वारा एक-दूसरे से निकलती हैं। इसी समय "भैषज्य पौधों की राजकीय वाटिका" को "प्राकृतिक इतिहास के राष्ट्रीय संग्राहलय" में परिणत कर दिया गया और संग्राहलय में अनेकों नये पदों का सृजन किया। एक पद केवल मेरुदंडीय जीवों के अध्ययन से सम्बन्धित था और उस पर जिओफ्रोसेंट हिलेअर को प्रतिष्ठित किया गया। दूसरा मेरुदण्ड विहीन (जिसे बाद में अमेरु दंडीय जीव कहा जाने लगा) पशुओं के अध्ययन के वास्ते था और उस पर जीन बैप्टिस्ट ड माने, जो लामार्क के प्रसिद्ध अनुयायियों में से था, प्रतिष्ठित हुआ। प्रसिद्ध विकासवादी लामार्क की पुस्तक **फिलासॉफी जूलॉजिक** 1809 ई. में प्रकाशित हुई। उसके अनुसार अंगों का विकास उनके निरन्तर उपयोग पर निर्भर करता है तथा उनका ह्रास उनके अभाव पर। यही कारण है कि छुछंदर जो भूमिगत जीवन व्यतति करता है तथा सुरगे बनाता है अपने खोदने वाले पंजों का विकास करता है। इसके विपरीत उसकी आंखों की रोशनी अक्सर कम हो जाती है या बिल्कुल खत्म हो जाती है, क्योंकि एक भूमिगत जानवर के लिये वह करीब-करीब अनावश्यक है। इसका दूसरा उदाहरण जिराफ है जो वृक्षों की ऊची पत्तियों (क्योंकि निचली पत्तियां समाप्त हो गई हैं) को पाने के लिये हमेशा अपनी गर्दन ऊंचा रखने के लिये विवश है, फलतः भौतिको के नियमों की सीमा में उसकी गर्दन धीरे-धीरे जितनी लंबी हो सकती थी, होती गई।

लामार्क अर्जित गुणों की आनुवांशिकता को स्वीकारता है। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता; वास्तव में विपरीत सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिये परीक्षण के तौर पर किसी चूहा दम्पत्ति की पूछों को संतान उत्पन्न करने के पूर्व यदि कोई काट दे और आने

वाली पीढ़ियों में भी इस प्रक्रिया को जारी रखे, तब भी जो चूहों का बच्चा पैदा होगा वह पूंछ समेत ही होगा। अतएव वैज्ञानिक समुदाय लामार्क के सिद्धान्त को याद नहीं करते। अर्जित गुणों को अनानुवंशिकता के सिद्धान्त में कभी भी किसी ने कोई परिवर्तन नहीं किया है, केवल इस अपवाद के कि वर्तमान शताब्दी के मध्य में एक छद्म-वैज्ञानिक जो स्तालिन का मित्र था और जिसका नाम ट्रॉफिम लाइसेंको था उसने इस सिद्धान्त का विरोध किया और लामार्क के मत का प्रतिपादन कर तीस वर्षों तक सोवियत जीव विज्ञान में आतंक का सामाज्य फैला दिया। पर हम इस अपवाद को भूल जायें तथा उन्नीसवीं शताब्दी में वापिस आयें।

लामार्क के कृतित्व के सिर्फ पचास वर्षों बाद 24 नवम्बर 1859 को जातियों की उत्पत्ति पर डार्विन की प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई। 1831 तथा 1836 के बीच की गई अपनी संसार की यात्रा के दौरान सूक्ष्म निरीक्षणों द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर इसे विकसित करने में उन्हें एक चौथाई सदी से भी अधिक समय लगा।

डार्विन के अनुसार सभी जीवों में, यहां तक कि सजातीय जीवों में भी, स्वाभाविक भिन्नताएं प्रायः दिखाई पड़ती हैं। यदि भिन्नता "साधारण" व्यक्तियों के लिये जरा भी लाभदायक हो, तो वह और उसकी आने वाली संतति अपने पूर्वजों की अपेक्षा अपनी वंश वृद्धि अधिक करती है। दूसरी ओर, यदि भिन्नता हानिकारक हो तो वह और उसकी आने वाली संतति तेजी से समाप्त हो जाती है। अपने निरीक्षणों के अतिरिक्त, डार्विन का ध्यान पालतू जातियों के चयन के समय पशुओं के सहवास द्वारा प्राप्त परिणामों की ओर भी आकृष्ट होता है। परन्तु इसमें कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। मनुष्य ही तो इच्छा के अनुसार जिस प्रकार के गुणों से युक्त जानवर को चाहता है उसी प्रकार के गुणों वाले प्राणियों को आगे संतान उत्पन्न करने के लिये चुनता है। दूसरों को तो वह निर्ममतापूर्वक नष्ट कर देता है। इसी तरह अधिक दूध देने वाली गायें, घनी रोयें दार भेड़ें और अधिक अण्डा देने वाली मुर्गियां कम समय में ही प्राप्त की गई हैं। प्रश्न है कि प्रारंभिक अवस्था में सहवास हेतु कौन पशु तैयार होता है; दूसरे शब्दों में, नैसर्गिक अवस्था में सर्वोत्तम चयन की गारंटी कौन देता है? उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राबर्ट माल्थस नामक एक जनसंख्या विशेषज्ञ ईसाई पादरी था। डार्विन ने इस प्रश्न का उत्तर उसमें ही पाया। माल्थस के अनुसार जनसंख्या सदैव अपने साधनों की अपेक्षा तेजी से बढ़ती है। फलतः जनसंख्या के दबाव की वजह से प्राणियों का प्रत्येक समूह एक अभाव की अवस्था महसूस करने लगता

है जिससे पीढ़ी-दर-पीढ़ी आपस में उन सीमित साधनों के लिये भयंकर प्रतियोगिता होने लगती है। प्रत्येक मनुष्य के लिये पर्याप्त साधन हों, इसके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यों की संख्या भी सीमित हो। इस सीमित संख्या की प्राप्ति प्रत्येक समूह में उस आपसी स्पर्धा द्वारा होती है जिसके कारण सबलतम के लाभ के लिये निर्बलों का उन्मूलन और जो जीवन के लिये अधिक सक्षम हैं उनके अनुपात में जो कम सक्षम हैं, उनका उन्मूलन करती है।

डार्विन इस "जीवन की लड़ाई" में विकास और प्रगति की मूल शक्ति को देखता है।[1] डार्विन के सिद्धान्त, जिसका सम्पूर्ण विज्ञान जगत ने उत्साहवर्धक स्वागत किया, के विरुद्ध प्रतिहिंसात्मक विरोध भी उभर कर आया। उस समय के धार्मिक समाज में जो अधिकांशतः धर्मनिष्ट था डार्विन के इस विचार ने उस विश्वास पर आघात किया जिसके अनुसार मनुष्य ने स्वयं ईश्वर की रचना ही है। डार्विन के लिये हमारे दूरवर्ती पूवजों, जो बदरों के एक समूह की सतान थे का होना योग्यतम की रक्षा के प्रत्येक अवसर पर प्रतिस्पर्धाओं की दीर्घ शृंखला का एक परिणाम मात्र है। इसलिये हम वनमानुष से अत्यधिक सम्बन्धित हैं। कोई भी व्यक्ति आसानी से उस लोक निन्दा की कल्पना कर सकता है जो इस घोषणा के फलस्वरूप हुई होगी कि मनुष्य अब ईश्वर की संतान नहीं है। वरन् एक ऐसे पूर्वज से आकस्मिक विकास की सतत् प्रक्रिया का फल है जिससे मनुष्य जाति तथा अफ्रीका के विशाल बन्दर दोनों सम्बन्धित हैं। और यदि सर्वमान्य सम्मानीया सम्राज्ञी विक्टोरिया यूरोप के सभी सम्राटों की शीघ्र ही पितामही हो जायेंगीं तो भी वह लन्दन के चिड़ियाघर में रखे वनमानुष से सम्बन्धित ही कहलायेंगी।

डार्विन की परिकल्पना : समाजशास्त्र तथा राजनीति

परन्तु डार्विन के सिद्धान्त को अपूर्व सफलता भी प्राप्त हुई। यह व्यक्तियों की असमानता तथा उनके संघर्ष पर निर्भर करता है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति वह स्थान प्राप्त करता है जो उसकी इस संघर्ष से सम्बन्धित योग्यताओं के अनुरूप है। अतः डार्विन की परिकल्पना 19 वीं शताब्दी में प्रचलित सामाजिक एवं राजनैतिक अवस्था को वैज्ञानिक रूप में औचित्य प्रदान करती हुई प्रतीत होती है तथा इस कारण अनेक व्यक्तियों को नाराज भी करती है। हमने पूर्व पृष्ठों में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न अर्द्ध-सर्वहारा वर्ग की दयनीय स्थिति का उल्लेख किया है। इसकी व्याख्या चार्ल्स-डार्विन के चचेरे भाई गाल्टन द्वारा विकसित सामाजिक डार्विनवाद में होती है, जिसके अनुसार अन्ततः निर्धन उस अवस्था में इसलिये है क्योंकि वे जरा सा भी धन प्राप्त करने के अयोग्य हैं। सामाजिक दृष्टि से, वे वास्तव में, अक्षम हैं। वे

अपने को उस सामाजिक स्तर पर पाते हैं जहां उनकी प्राकृतिक क्षमताओं ने अन्य लोगों से प्रतिस्पर्धा में उन्हें पहुंचाया है। इसलिये, चाहे उनकी स्थिति कितनी ही खराब क्यों न हो, वह विकास के नियम के अनुकूल है। एक प्रकार से उसे मानव प्रकृति की कीमत या अनिवार्य शर्त के रूप में देखा जा सकता है। व्यावसायिक क्षेत्र के स्तर पर भी यही युक्ति दी जाती है। औद्योगिक युग का आरम्भ भयंकर प्रतियोगिता से ग्रसित है। यह स्वतंत्र उद्योग का युग है, और इसमें केवल एक ही नियम है कि सबलतम विजयी होता है और अन्य सब दब जाता है। यह रोजमर्रा की बात है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी इसी सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। यदि महान् यूरोपीय शक्तियों ने सभी महाद्वीपों की अश्वेत जातियों पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया है, तो इसलिये कि वे उनसे अधिक प्राणवान तथा शक्तिशाली हैं। इस प्रकार उपनिवेशों की खोज और उनको संस्थापना के औचित्य की स्थापना की जाती है और इसके साथ ही उनकी सब अच्छाइयों और बुराइयों की भी। इसमें ही दास व्यापार तक के औचित्य की खोज भी की जाती है। यही नहीं, राष्ट्रों के बीच युद्धों को भी अनिवार्य और आवश्यक बताया जाता है क्योंकि वे मानवीय स्तर पर उस संघर्ष के प्रतीक हैं जो प्राणिमात्र में व्याप्त हैं, और प्रगति की अनिवार्य शर्त हैं और जिसके बिना हम अभी भी पत्थर के युग पर ही पड़े होते। इस प्रकार डार्विन की परिकल्पना ने प्राचीन यूरोप तथा युवा अमेरिका के शासक वर्गों को आश्वस्त किया और उनकी अन्तरात्मा की उस आवाज को कमजोर करने में सहायता की जो उनको इन अगणित पापों के लिये उनकी भर्त्सना करती थी जिनका सबसे ज्वलंत उदाहरण वे युद्ध थे जो इंगलैन्ड ने चीन के विरुद्ध अफीम निर्यात करने के अधिकार को लेकर किये थे।

परन्तु आश्चर्य तो यह है कि डार्विन का सिद्धान्त इसके बिलकुल विपरीत उदार कहे जाने वाले एवं पूंजीवादी समाज के विरुद्ध विचार को भी बल देने में सहायक होता है। 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से मार्क्स एवं एंजिल्स द्वारा विकासवादी विचार समाजशास्त्र में व्यापक रूप में पलते हैं। **दि ऑरिजिन आफ दि स्पीशीज** के प्रकाशन के काफी पहले मार्क्स प्राणियों के विकास में विश्वास करता था तथा उसने अपने विश्वास को प्रतिपादित किया था कि जीव विज्ञान के नियम एक दिन 'सामाजिक परिवर्तन' के नियमों को निर्धारित करेंगे। इसलिये दोनों मित्रों ने डार्विन के सिद्धान्त का बड़े उत्साह से स्वागत किया। उस में उन्हें अपनी विश्वदृष्टि का वह वैज्ञानिक आधार मिला जो अभी तक उनके पास न था। उन्होंने केवल यह परिवर्तन किया कि जो संघर्ष अब तक सिर्फ व्यक्तियों या राष्ट्रों के बीच समझा जाता था, अब वह मात्र

वर्गों के संघर्ष के रूप में ही समझा जाने लगा। उनके अनुसार, एक ओर छोटे भू–स्वामियों की बढ़ती हुई दरिद्रता ओर दूसरी ओर बड़े पूंजीपतियों की आपसी भंयकर प्रतियोगिता के कारण श्रमिकों की अधिकाधिक गरीबी वर्ग-संघर्ष को अधिक बल देती है।

इसके विपरीत हालांकि धनी वर्ग अधिक धनी होने लगता है, पर उसकी संख्या कम होती जाती है। अन्ततः जब सर्वहारा वर्ग की संख्या पर्याप्त मात्रा में पहुंच जाती है तो सामाजिक संतुलन उसके पक्ष में बदल जाता है। वह अपना अधिनायकत्व स्थापित करने में सक्षम हो जाती है तथा धन वितरण की नयी प्रणाली कायम करती है। वर्गहीन तथा राष्ट्रविहीन सामूहिक समाज संघर्ष के सभी कारणों को समाप्त कर देता है और मनुष्य पृथ्वी पर एक नये स्वर्ग का निर्माण करता है।

12 दिसम्बर 1859 को 'डार्विन की पुस्तक के प्रकाशन के मात्र थोड़े दिनों बाद, एंजिल्स ने मार्क्स को बड़े उत्साह से भरा हुआ एक पत्र लिखा, "यह आदमी डार्विन, जिसकी पुस्तक मैं पढ़ रहा हूं, बिल्कुल सनसनी पूर्ण है, इसके पूर्व इतना विस्तृत प्रयास कभी भी नहीं किया गया जो यह निश्चित रूप से सिद्ध कर सके कि प्रकृति के क्षेत्र में ऐतिहासिक विकास हुआ है।"

मार्क्स ने भी जोश के साथ इसका अनुमोदन किया। उसने इसकी प्रशंसा की और अपना इससे मतंव्य बताया। 19 दिसम्बर, 1860 को उसने एंजिल्स को लिखा कि डार्विन की पुस्तक ने "हम लोगों की चिन्तन प्रक्रिया को प्रकृति के स्वयं के विकास की प्रक्रिया में आधारित करती है।" और इसके कुछ ही सप्ताह बाद उसने लाजेल को लिखा कि वह उक्त पुस्तक में "वर्ग संघर्ष के मूल आधार को प्रकृति विज्ञान में पाता है।"

परिणामतः मार्क्स ने डार्विन से मिलने का अथक प्रयास किया। उसने बार बार पत्र लिखा, अपनी वृहत्काय पुस्तक **डास कैपीटल** के प्रथम भाग को विशिष्ट समर्पण के साथ उसे भेजा। परन्तु डार्विन ने पढ़ा तक नहीं। वह पुस्तक आज तक उसके घर में है जो अब एक संग्राहलय के रूप में सुरक्षित है। उसके सिर्फ प्रारम्भ के ही कुछ पृष्ठ हैं। पढ़ने के लिये अलग अलग काटे गये हैं। बाद में मार्क्स ने डार्विन को लिखा कि वह अपनी पुस्तक **डास कैपीटल** का दूसरा भाग जो समाप्त होने ही वाला है उसे समर्पित करना चाहेगा। (यह भाग लेखक की मृत्यु के बाद एंजिल्स के अथक परिश्रम के कारण प्रकाशित हुआ) डार्विन ने विनम्र पर निश्चयात्मक अस्वीकृति के साथ उत्तर

दिया "मैं चाहूंगा कि पुस्तक मुझे समर्पित न की जाय क्योंकि इससे एक ऐसी पुस्तक के प्रति मेरा समर्थन प्रकट होगा जिसके बारे में मैं बिल्कुल भी नहीं जानता।"[2]

19 वीं शताब्दी प्रायः समाप्त होने वाली है। इसकी शुरुआत नेपोलियन के उन युद्धों से होती है जो बाद में यूरोप को अधिकाधिक हिंसात्मक आन्दोलनों की तरफ ले जाते हैं। और इसका अन्त अदम्य उत्साह और आशावाद में होता है; मानव अपनी आश्चर्यजनक शोधों और गवेषणाओं से स्वयं ही स्तंभित और चकित रह जाता है। भौतिकी, रसायनशास्त्र और चिकित्साशास्त्र में आश्चर्य जनक प्रगति होती है। फ्रांस में तथा यूरोप के अधिकांश देशों में शिक्षा अनिवार्य हो जाती है। निरक्षरता का ह्रास होता है, अत्यन्त साधारण गरीब परिवारों में भी संस्कृति का प्रवेश होने लगता है। यात्रा जो पहले थोड़े से सुविधाभोगी लोगों का ही अधिकार हुआ करती थी रेल और स्टीमर की कृपा से अधिकाधिक लोगों के लिये सुलभ हो जाती है और इससे विभिन्न महाद्वीपों और उनके निवासियों के बीच में अधिक निकट के सम्पर्क स्थापित होते हैं। तैयार वस्तुओं के बदले में कच्चे माल का विनिमय होता है। टेलीग्राम के अविष्कार के कारण समाचार दूर-दूर तक तथा शीघ्र पहुचते हैं। पेरिस से भेजी गई डाक सामग्री कुछ ही मिनटों में सेंट पीटर्सबर्ग (अब लेनिन ग्राड, जारों की तात्कालीन राजधानी) पहुच जाती है जबकि इतनी ही दूर पहुंचने में पहले उसको सप्ताहों और कभी-कभी महीनों भी लग जाते थे। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम समुद्री तारों द्वारा योरोप तथा अमेरिका को जोड़ा और बाद में आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलेण्ड भी जुड़े।

अनेक व्यक्ति आश्चर्य करते हैं कि यह प्रगति कितनी दूर जा सकती है। क्या यह शायद अन्तहीन है?

मध्ययुग के अन्धकार से अभी कुछ ही मुक्त हुए प्राचीन औद्योगिक यूरोप में एक नयी वैज्ञानिक लहर चली, हालांकि पुनर्जागरण की प्रक्रिया ने पहले ही कुछ क्षितिजों को खोल दिया था। सम्भवतः विज्ञान सब समस्याओं का हल ढूंढ निकालेगा और मनुष्य को अमर बनाकर ही समाप्त होगा।

इस नयी मृग-मरीचिका के सामने पारम्परिक चर्च बड़े आत्म सयम से काम लेता है। परन्तु शीघ्र ही 'आधुनिकवाद', (जिसमें वैज्ञानिक और सामाजिक सिद्धान्त दोनों ही सम्मिलित कर दिये जाते हैं) की निष्ठुर और भरपूर निन्दा की जाने लगी। पर इसी के साथ जीवन स्तर में सुधार होने लगा और मार्क्स की भविष्यवाणियों के बावजूद, औद्योगिक देशों के श्रमिक

कोई अपना एक सुदृढ़ संगठन नहीं बना पाये। बल्कि इसके बिल्कुल विपरीत, श्रमिक-वर्गों में से अनेकों को सुख सुविधायें प्राप्त हुईं और वे उस मध्यवर्ग में शामिल हो गये जिनकी संख्या अधिक थी और जिन्होंने राज्य शक्ति पर प्रभुत्व स्थापित करके सर्वत्र उदार प्रजातंत्रात्मक राज्यों की स्थापना की। एकमात्र देश जो इसके विपरीत सामूहिक साम्यवाद को प्रश्रय देगा वह रूस है जहां जार का प्रभुत्व था, जहां औद्योगिकरण बहुत कम हुआ था और जो अभी भी सामंतवादी समाजतंत्र से काफी हद तक बंधा हुआ था। उसके इस विपरीत दिशा में जाने में 1914-18 के प्रथम महायुद्ध ने भी कुछ योगदान दिया था। अन्ततः मार्क्स की कोई भी भविष्यवाणी सत्य नहीं हुई। किसी भी भविष्य वक्ता ने भविष्य के विषय में इतना अधिक भ्रान्तिपूर्ण विवरण कभी भी प्रस्तुत नहीं किया है।

बीसवीं शताब्दी तथा जनसंख्या क्रान्ति

1884 में जब जॉर्ज मेन्डल की मृत्यु हुई तब उसके नाम से सब ही अपरिचित थे। उसके कार्य की प्रसिद्धि 1900-1901 में ही हो सकी। एक नवीन वैज्ञानिक औचित्य प्रदान करते हुए उसने डार्विन के सिद्धान्त में नई अभिरुचि को जन्म दिया। मेन्डल के अनुसार, प्रत्येक आनुवंशिक विशेषता दो भौतिक कणों, जिन्हें बाद में जीन्स कहा जाने लगा, द्वारा नियंत्रित होती है, एक पिता की ओर से शुक्राणु द्वारा और दूसरा माता की ओर से अण्डाणु द्वारा तथा जो गर्भ धारण के समय एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। जीन्स की एक शृंखला को लाने वाला शुक्राणु तथा उसकी दूसरी शृंखला को लाने वाला अण्डाणु का परस्पर संयोग इस प्रकार जनन शक्ति युक्त अण्डे में सभी जीन्स को दुहरी मात्रा में स्थापित करता है। और चूंकि यह प्रथम जीवन्त अण्डा ही अनन्त अण्डों में अपने को सम्पूर्णतः बार बार विभक्त करता है, व्यक्ति के सभी कोषों में समान पैतृक गुण व्याप्त होते हैं।

इस सबका जो दृश्य परिणाम व्यक्ति विशेष में परिलक्षित होता है वह मातृक एवं पैतृक जीन्स की अन्तर्क्रियाओं का संयुक्त फल है। अधिकांश अवस्था में दो जीन्स समान होते हैं और उनकी क्रिया एक ही दिशा में होती है। पर कभी-कभी देखा जाता है कि उनमें किसी एक जीन में संरचनात्मक भेद होता है। तब उस 'साधारण' जीन में एक ऐसा मौलिक परिवर्तन हुआ माना जाता है जिसके कारण उसको "उच्छृंखल" कहा जाता है। इसकी क्रिया भिन्न हो सकती है तथा उसे वहन करने वाला व्यक्ति 'मौलिक' कहलाता है। डार्विन द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक समूह में कभी कभी पाई जाने वाली भिन्नताओं के

स्रोत का पता मेन्डल की इस खोज में चलता है। ये ही वे भिन्नताएँ हैं जिन पर प्राकृतिक परिवेश की शक्तियां अपना प्रभाव डालती हैं, और जो प्राणिमात्र में चयन की उस प्रक्रिया के कारण बनती हैं जिनसे विकास क्रिया आगे बढ़ती है। नये जीन तथा पुराने या साधारण जीन में प्रकृति उस एक का चयन करती है जो उसके अनुसार अधिकाधिक लाभकारी गुणों से युक्त होता है और दूसरे को नष्ट कर देती है। दूसरे प्रकार से कहें तो वे व्यक्ति जो इन हानिकारक गुणों को रखते हैं, वे धीरे-धीरे पर निश्चयात्मक रूप में विनाश को प्राप्त होते जाते हैं। वास्तव में, जीवन का संघर्ष जीन के स्तर पर ही होता है। व्यक्ति तो केवल उसका वाहक मात्र है, जो प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया से सम्बन्धित दिखाई देता है।

अतएव सभी प्राणी जो एक ही काल में समान दशाओं में रहते हैं तथा एक प्रकार की चयन शक्तियों के ही विषय बनते हैं, एक ही तरह के उन आनुवांशिक गुणों से युक्त होते हैं जो उन्हें अपने वातावरण की कठिनाइयों के विरुद्ध सबसे अच्छे ढग से विरोध करने को क्षमता प्रदान करते हैं। जीन अ तथा नये मौलिक जीन अ' में से किसी एक को प्राकृतिक परिवेश की चयनकारी शक्तियों को चुनना होगा और वे उसको ही चुनेंगी जो उसके अधिक अनुकूल होगा या जिसमें उस वातावरण में जीवित रहने की अधिकांश क्षमता होगी।

यह धारणा वर्तमान शताब्दी के मध्य तक सर्वमान्य थी परन्तु 1960 से, पशु और वनस्पति दोनों में जीन्स से सीधे और साक्षात् उत्पन्न होने वाले द्रव्यों के अध्ययन से यह पता लगा है कि कोई भी प्राणी समूह आनुवांशिकता की दृष्टि से एकसा नहीं होता। इसके विपरीत उसके प्रत्येक सदस्य में काफी भिन्नता पाई जाती है। यह तथ्य, जो आनुवांशिक बहुत्ववाद के नाम से जाना जाता है, सभी सजीव समुदायों में नियत सिद्धान्त के रूप से स्वीकार किया जाता है। दूसरे शब्दों में, जीन अ तथा उससे भिन्न नये मौलिक अ' के चयन में निर्वाचन प्रायः हमेशा दोनों अ तथा अ' को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। प्रथम दृष्टि में तो यह आत्मविरोधी सी बात लगती है परन्तु अब यह ज्ञात हो चुका है कि यह किस प्रकार होती है।

प्राणियों की प्रत्येक जाति का प्राकृतिक परिवेश कभी भी एकसा नहीं होता, वरन् सदा बदलता रहता है। काल (ऋतुएं : ग्रीष्म/शीत, दिन : धूप/छाया) तथा देश (ऊंचाई, भूमि-विस्तार आदि) की वजह से इनमें परिवर्तन होता रहता है। किसी भी पहाड़ी की दूसरी ओर बिल्कुल भिन्न वातावरण

प्राप्त होता है—इस बात की सच्चाई थोड़ा सा चलकर हमेशा देखी जा सकती है।

एक ही तरह के आनुवांशिक पैतृक गुण वाले (अर्थात् एक ही प्रकार की अन्तर्निहित संभावना रखने वाले) व्यक्तियों वाली आबादी अपने को एक विशिष्ठ परिवेश तक ही सीमित कर लेगी। वे सभी व्यक्ति जो इस प्रकार के समूह के सदस्य होंगे, एक ही समय सक्रिय होंगे, एक ही प्रकार का खाद्य पदार्थ ढूँढेंगे तथा एक ही प्रकार का वातावरण खोजते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सभी एक ही स्थान में निवास करना चाहते हैं तथा अपने यौन सम्बन्धों के लिए एक ही तरह के साथी की तलाश करते हैं। इस प्रकार, एक सीमित परवेश में रहने के कारण एक ही लक्ष्य प्राप्ति के लिये सभी व्यक्तियों में भयंकर प्रतिस्पर्धा होने लगती है तथा इस प्रकार उस सीमित क्षेत्र में उन्हें जीवित रखने के प्राकृतिक साधन क्रमशः कम प्राप्त होने लगते हैं।

दूसरी ओर, यदि प्राणियों के किसी समूह में व्यक्ति आनुवंशिकतः विभिन्न होते हैं (जैसे, अ, अ', अ'') तो अपनी क्षमताओं के भिन्न होने के कारण कोई सुबह सक्रिय होगा तो कोई मध्याह्न को अथवा शाम को तथा कोई रात में। कोई शाकाहारी भोजन पसंद करेगा तो कोई मिश्रित या मासांहारी भोजन। यौन सम्बन्धों के लिये कोई एक प्रकार के साथी को पसंद करेगा और कोई किसी अन्य को। इसी प्रकार कोई शीत स्थान को ढूंढेगा तो कोई ऊष्ण स्थान। अतएव उनके कार्यक्षेत्र की सीमा अधिक विस्तृत होगी। साधन भी जो उनको प्राप्त होंगे वे भी परिमाण में काफी अधिक होंगे। इस प्रकार उनमें प्रतिस्पर्धा भी कम होगी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति दूसरों को बाधा पहुंचाये बिना उसे प्राप्त करने की कोशिश करते हैं जो उसके लिये सर्वाधिक उपयुक्त होता है। इस दूसरी प्रकार की संरचना द्वारा चयन प्रक्रिया में जो लाभ होता है उससे कोई कैसे इन्कार कर सकता है? इसमें आश्चर्य की क्या बात है कि एक ही आनुवांशिक सम्पत्ति के कारण एक जैसे होने के कारण जिन जातियों का व्यवहार एकसा है और जो एक सीमित परिवेश में ही रह सकते हैं, उनकी अपेक्षा वे जातियां प्राकृतिक चयन के अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई हैं जिनकी आनुवांशिक सम्पत्ति एक सी नहीं है। और जो इस कारण अपने परिवेश से सीमित होने के बजाय सतत विस्तृत करते रहते हैं। व्यक्ति और समष्टि दोनों ही के स्तर पर दूसरे प्रकार की जातियां अधिक सक्षम सिद्ध होती हैं। इसलिए केवल हानिकारक नये जीनों को छोड़कर, जो जल्दी ही नाश को प्राप्त हो जाते हैं, प्रत्येक नये जीन का प्रकृति में अधिकतर स्वागत ही होता है।

मनुष्य भी इस नियम का अपवाद नहीं है। जबसे विशिष्ट प्रकार के रुधिर वर्गों का पता चला है, तब से यह भी सिद्ध हो गया है कि प्रत्येक जाति में ये वर्ग पाये जाते हैं, फिर चाहे उनका अनुपात भिन्न-भिन्न क्यों न हो। चाहे ए-वर्गों को लें या सी- व जी को या आ-वर्ग को, ये सब समान रूप से उन जातियों में पाये जाते हैं जिनका साधारण तौर पर रंग काला, गोरा या पीत दिखलाई पड़ता है। यही बात उन अन्य तत्वों के बारे में भी सही है जिनका अभी तक अध्ययन हुआ है। अत्यधिक आधुनिक अध्ययन प्रदर्शित करता है कि हमारे पास वास्तव में एक नियत एवं विशाल आनुवांशिक सम्पत्ति है जो सहज रूप में विविध आयाम लिये हुए है। जीन्स तथा म्यूटेशन–वह (जीन्स) जिनमें स्वभावतः आकस्मिक मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं–इन दोनों के बीच संभव संयोग की संख्या इतनी अधिक है कि समान आनुवांशिक पैतृक गुणों वाले दो व्यक्तियों को पाना व्यवहारतः असभव है। इसका अपवाद केवल वे जुड़वां बच्चे हैं जो एक ही अण्डे से उत्पन्न होते हैं और इसलिये जो ऐसे नजर आते हैं जसे वे एक ही मॉडल की दो कॉपी हों।

आनुवांशिक बहुविधवाद इस प्रकार प्रकृति का एक आधारभूत नियम है और अब हमें यह भी ज्ञात है कि प्राकृतिक निर्वाचन का कार्य न तो स्वयं जीन से सम्बन्धित होता है और न ही उस व्यक्ति से जो उसे धारण करता है, वरन् उस समग्र समूह के सदर्भ में होता है जो एक-दूसरे से भिन्न, परन्तु साथ ही एक दूसरे के पूरक तत्वों से निर्मित होता है। जिस समूह के व्यक्तियों में जितनी ही अधिक विविधता होगी वह प्राकृतिक परिवेश की चुनौतियों का अनगिनत सामना करने में उतना ही अधिक सक्षम होगा। अपने केवल निजी अकेलेपन में व्यक्ति का कोई विशेष महत्व नहीं होता। उसका महत्व तो केवल उस पर निर्भर करता है जो वह उस समष्टि को दे पाता है जिसका वह सदस्य है। वह समष्टि ही वास्तव में प्राकृतिक चयन का विषय होती है। आधुनिक ज्ञान की प्राणिजगत से सम्बन्धित यह दृष्टि डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त को स्थापित करने के बाद जीव विज्ञान के इतिहास में निःसंदेह ही सबसे बड़ी वैचारिक क्रान्ति है।

सामाजिक जीव शास्त्र अथवा जैविक समाजशास्त्र

तत्कालीन समाज शास्त्रीय तथा राजनैतिक विचार पर डार्विन की परिकल्पना के प्रभाव की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। क्रूर पूंजीवादी तथा उच्छृंखल मार्क्सवाद दोनों ने अपने विश्वासों का वैज्ञानिक औचित्य उसमें देखा था। परन्तु आज वह परिकल्पना अपनी प्रारम्भिक व्याख्या में असत्य मानी

जाती है । कोई भी प्राणिशास्त्री अथवा आनुवंशिक प्राणियों के किसी भी समुदाय को आज उस दृष्टि से देखने की कल्पना तक नहीं करेगा जिस तरह डार्विन ने उसे देखा था। परन्तु इस परिपेक्ष्य से ही आज यह समस्या उत्पन्न होती है कि क्या उस मिथ्या नींव पर आधारित उन सामाजिक व्यवस्थाओं को आज हम स्वीकार कर सकते हैं जो हमारी नजरों के सामने पहले ही अपने को सब प्रकार से अक्षम और अर्थहीन सिद्ध कर चुकी हैं । पर दार्शनिक और राजनैतिक विषयों में हम अधिकतर परिवर्तन विरोधी होते हैं और इसलिये साधारणत: जो भी मत अपना लेते हैं तो उसको ही पकड़े रखते हैं । मानव-मन के लिये परम्परा से प्राप्त "निश्चितताओं" के सुख को छोड़ना तथा मान्यताओं को फिर से संदेह की दृष्टि से देखना सदैव कठिन रहा है । तथापि, ज्ञान की लगातार वृद्धि के साथ प्रश्न न करना मुश्किल होता है । कौन आज यह दावा करने का साहस करेगा कि युद्धों से मनुष्य की प्रगति होती है? और क्या मार्क्स अपने उस वर्गहीन आदर्श राज्य को, जिसके बारे में उसे विश्वास था कि वह भविष्य में निश्चयात्मक रूप में सत्य होगा, वृहत् सोवियत साम्राज्य में पायेगा ? आज की वास्तविकता कल के स्वप्न से कितनी दूर है ।

इस स्पष्ट असफलता के बावजूद गड़े मुर्दों को उखाड़ने की कोशिश कभी कभी की जाती है और इसका सबसे ताजा उदाहरण सामाजिक जीव-शास्त्र है, जिसे हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध कीट वैज्ञानिक ई. विल्सन ने स्थापित किया है ।

विल्सन के अनुसार, सभी व्यक्ति केवल अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही अनुगमन करते हैं और यह प्रवृत्ति है कि अपने जीन्स में दी हुई निहित शक्तियों का उनकी अल्पतम सीमा तक विस्तार करें । यह एक प्रकार से विश्व भर में व्यक्ति की शक्ति का निरंकुश विस्तार है और यह "आनुवांशिक स्वार्थपरतावाद" अनिवार्यत: पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को लिये हुए होता है । इस प्रकार एक बार पुन: हम उस पुराने सिद्धान्त की ओर लौटते हैं जिसके अनुसार जीवन के संघर्ष में सर्वश्रेष्ठ की ही विजय होती है और जो चारों तरफ दिखाई पड़ने वाले साधारण बहु आयामी विकासवाद के विपरीत है । विल्सन के इस सिद्धान्त को आनुवांशिकी से सम्बन्धित वैज्ञानिकों ने कभी भी गम्भीर रूप से विचारणीय नहीं समझा और न ही किसी ऐसे अन्य वैज्ञानिक ने जो मानव प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में काम करता हो । यह दूसरी बात है कि जो लोग किसी ऐसी विचारधारा में विश्वास करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य की कुछ जातियां सहजरूप में श्रेष्ठतर हैं, उन्होंने इसमें कुछ रूचि दिखाई । यही नहीं, अब तो इसका उल्लेख भी पाना मुश्किल है क्योंकि इसके प्रवर्तक ने स्वयं मान लिया

है कि उसका सिद्धान्त केवल सामाजिक कीटाणुओं के बारे में ही सही है क्योंकि उनका व्यवहार पूरी तरह जन्मजात प्रवृत्तियों से नियमित और परिचालित होता है। जहां तक मानव समाज का प्रश्न है उसके संदर्भ में तो वह निर्थक सा ही है क्योंकि वहां तो लालन-पालन की भूमिका ही अधिक है और वह हमारे जीन्स से भी अधिक हमारे रहने सहने के ढंग तथा सांस्कृतिक जीवन प्रक्रिया को अधिक प्रभावित करती है।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व क्लौड लेवी-स्ट्राउस ने बड़े प्रतिभाशाली ढ़ंग से यह सिद्ध किया था कि हर सभ्यता में, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, विवाह पद्धति के नियामक-सिद्धान्त जैविक आवश्यकताओं से निर्धारित न होकर सांस्कृतिक अनिवार्यताओं से निर्धारित होते हैं। यही नहीं, बल्कि हाल ही में एक प्रसिद्ध जापानी आनुवंशीय वैज्ञानिक, मॉटू किमूरा ने प्रकृति में जो कुछ दिखलाई पड़ता है ठीक उसके अनुरूप गणितीय मॉडल द्वारा डार्विन के मत को मानने वालों के लिये नई समस्या उत्पन्न की है। किमूरा ने प्रतिपादित किया कि जीन्स में होने वाले अधिकांश मौलिक परिवर्तन चयन की दृष्टि से न तो हानिकारक होते है और न लाभदायक तथा उनका वितरण मात्र संयोग या सम्भावना के नियमों के अनुसार ही होता है। यह सिद्धान्त, जो तटस्थवाद के नाम से जाना जाता है, शुद्ध संयोग से घटित होने वाले तथ्यों पर अधिक बल देता है। इस प्रकार, प्राकृतिक चयन के साथ, जो वातावरण से न्यूनतम समायोजन करने की अनिवार्यता के कारण सब प्राणियों पर लागू होता है, संयोग से उत्पन्न होने वाली आकस्मिकता भी विकास की प्रक्रिया को निरन्तर परिवर्तित करती रहती है।

अतएव संयोग भी जीवों में भिन्नता उत्पन्न करने वाला एक अन्य तत्त्व है। इस प्रकार हम जैविक और उसके कारण समाजशास्त्रीय अवधारणाओं में एक आधारभूत परिवर्तन देखते हैं। और इसलिये ज्यों-ज्यों क्रमिक विकास बढ़ता जायेगा, आगामी सहस्त्राब्दियों के लिये 19 वीं शताब्दी की मिथ्या निश्चितताओं से नहीं वरन् 20 वीं शताब्दी की समाप्ति के अनुभवों से प्रेरित नये प्रकार की सभ्यता को अपनाना अनिवार्य होगा। आनुवंशिक बहुविधावाद, परिपूरकता तथा समन्वयन जैसा कि पहले ही कहा गया है किसी भी प्राणि समाज के आधार-भूत मूल्य होते हैं, न कि एकरूपता या आक्रमकता जैसा कि डार्विन विश्वास करता था।

आक्रमकता एक लाभदायक गुण हो सकता है। लेकिन तभी जब विजय निश्चित हो। पर, कोई कभी भी निश्चित नहीं हो सकता कि किसी दिन

उसे अपने से अपेक्षाकृत अधिक आक्रामक, सबल एवं विनाशक समूह का सामना नहीं करना पड़ेगा। और ऐसा होने पर आक्रामक के लिये वह उसके प्रभुत्व के विस्तार का अवसर नहीं होता वरन् उसके विनाश का। प्रकृति में चयन की प्रक्रिया विनाश की ओर नहीं ले जाती। इसके विपरीत वह तो एक सतत् सृजन की प्रक्रिया है। यह प्राणियों को नष्ट नहीं करती वरन् उनके लिये ऐसे नये परिवेश निकालती है जहां किसी प्राणी का निवास न था। इसके लिये जीन्स में जो सहज रूप से अनायास परिवर्तन होते हैं उनकेकारण वह प्राणि जगत को, नई संरचनाओं को स्वीकार करने के लिये विवश करता प्रतीत होता है। और इसी के फलस्वरूप प्राणि तथा वनस्पति जगत की असीम विविधता तथा जीवन की हर क्षेत्र में फैलने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। आज मनुष्य तभी उन्नति कर सकता है जब वह राष्ट्रों के बीच होने वाले कलह को त्याग दे। यह तो एक प्रकार से इतिहास के धब्बे मात्र हैं, जैसाकि चार्ल्स डी गॉल ने देशों की सीमाओं के लिये लिखा था। यही नहीं, वर्ग संघर्ष की उस कल्पना को भी उसे त्याग देना चाहिये क्योंकि समय के साथ वर्गों के बीच रेखाएें अधिकाधिक अनिश्चित होती जाती हैं।

याल्टा का प्रतीक, जो आज चालीस साल पुराना हो चुका है, मनुष्य को वह मार्ग दिखलाता है जिसका अनुसरण नहीं किया जाना चाहिये। विश्व के दो विरोधी सिद्धान्तों (जिनका आधार, जैसा कि हमने पीछे देखा है, डार्विन की प्रकृति के विकास की गलत व्याख्या थी) के गुटों में विभाजित कर इस ऐतिहासिक अधिवेशन ने एक संघर्षमय तथा संकटमय स्थिति को ही जन्म दिया। इसका मूल स्वभाव ही विकास विरुद्ध था, क्योंकि इसने मनुष्य के मार्ग को यहां तक अवरुद्ध कर डाला कि आज वह केवल भयाकुल प्रतीक्षा में है कि उसका संभावित आत्म विश्वास कब सत्य में परिणित हो। शक्ति की आपसी होड़ के बजाय बातचीत का मार्ग अपनाना होगा और जनता के प्रति शाषकों को अभिभावक की तरह बर्ताव करने के बजाय उनको आत्मशाषित बनाना चाहिये। व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहायता को उस प्रतिस्पर्धा का स्थान लेना चाहिये जो आणवीय शस्त्रों के बढ़ते हुए भण्डार की सहायता से पृथ्वी पर समस्त जीवन को ही समाप्त कर सकती है। कुछ ही मिनटों में यहां तक कि क्षणों में, चालीस खरब वर्ष पूर्व आरम्भ हुई प्राण-शक्ति की अद्भुत और अदम्य यात्रा जिसने अनेक बाधाओं को पार करते हुए मनुष्य को उत्पन्न किया तथा उसके द्वारा स्वयं को समझने की चेष्टा भी, समाप्त हो जावेगी। अन्त में, हमें अपनी स्वार्थपरता, दूसरों पर प्रभुत्व स्थापित करने तथा अपना एक छत्र अधिकार जमाने जैसी पाशविक प्रवृत्तियों को अपने मनुष्यत्व के पूर्ण नियंत्रण में लाने की चेष्टा करनी चाहिये। हमें सम–

भना चाहिये कि प्रत्येक व्यक्ति जैविक एवं सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टि से अनूठा है और इसीलिये वह, प्रत्येक पीढ़ी को समृद्ध करते हुए मनुष्य के सामान्य उत्तराधिकार के लिये अवश्य ही अपना योगदान करेगा चाहे वह कितना ही साधारण क्यों न हो। पर यह योगदान तभी संभव है जब व्यक्ति सोचने और करने के लिये स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता में ही मानव बहु विधवाद पूर्ण रूप से विकसित होता है। हमें एक रूप में ढ़ालने वाले बाहरी नियंत्रण चाहे किसी प्रकार के क्यों न हो, वे हमें सहस्त्रों सहस्त्र वर्ष पीछे लौटाते हैं। आनुवंशिक कार्यक्रम से हमारे मुक्त होने का अर्थ ही क्या रह जायेगा यदि हम वैचारिक सिद्धान्तों के शिकन्जे में वेसे ही कसे जांय। हमारा विशिष्ट महत्व इसी में है कि हम एक दूसरे से भिन्न हैं। और यह भिन्नता ही है, जो हमें मूल्यात्मक दृष्टि से एक समान बनाती है।

इस रूपान्तरण को प्राप्त कराने में तकनीकी प्रगति को हमारी सहायता करनी चाहिये। आने वाली शताब्दी दूसरी क्रान्ति जो दूर संचार साधनों एवं "यंत्र-मानवों" में होगी और जिसके आसार आज भी स्पष्ट है, देखेगी। यह मनुष्य मनुष्य को श्रम साध्य एवं कठिन कार्यों से मुक्त करेगी तथा वस्तुओं को सस्ते मूल्य पर उपलब्ध करायेगी। जो हमारे वंशजों के लिये समस्या उत्पादन की नहीं, वरन् उसका व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के बीच समुचित वितरण करने की होगी। मनुष्य की आयु में निरन्तर वृद्धि होगी और इसके कारण जीवन का वह भाग जब आदमी नियमित कार्य से अवकाश ले लेता है भी बढ़ जायेगा। पर चिकित्साशास्त्र में प्रगति स्वस्थ वृद्धावस्था की गारंटी देगी। अमरता की आशा करना तो व्यर्थ की बात है क्योंकि प्राणिमात्र के जीवन की अनिवार्यतः समाप्ति मृत्यु में ही है। सेक्यूबा की आयु 2 से 300 वर्ष तक की होती है। समुद्री कछुए की आयु 200 वर्ष तथा मनुष्य की अधिकतम आयु 100 वर्ष है। स्वास्थ्य एवं भोजन में सुधार होने से उन बीमारियों की संख्या कम हो जायेगी जिनमें मृत्यु निश्चित है। यही नहीं उनकी अवधि में भी कमी होगी। वृद्धावस्था पहले से कम दुखदायी होगी। हमारे वंशज जो शारीरिक श्रम एवं आयु के बोझ से काफी हद तक मुक्त हो जायेंगे, हम से कहीं अधिक अपना समय ऐसे सृजनात्मक कार्यों में लगायंगे जो विशिष्टतः मानवीय हैं जैसे ज्ञान की खोज, कला, साहित्य, इतिहास, संगीत-आदि। यही नहीं उन मूल्यों को जिन्हें हम न्याय, मानवीय प्रतिष्ठा, स्वतन्त्रता तथा प्रेम आदि के नाम से जानते हैं, नये रूप में परिभाषित करना होगा। वे ही मानव-जीवन को पूर्णता और आनन्द की प्राप्ति की ओर अग्रसर कर सकते हैं। परन्तु ऐसा एक ऐसे संसार में ही हो सकेगा जो मानव-मूल्यों पर आधारित होकर एक प्रकार से उसका प्रतिबिम्ब होगा। और इसके लिये यह अनावश्यक है कि हम अपने

को पशुता के उस पास से मुक्त करें जो प्राणि विकास की श्रृंखला में सबसे बाद में होने के कारण हमें विरासत में मिली है और जिससे अभी तक हम मुश्किल से ही छूट पाये हैं। अब से यह एक ऐसी जिम्मेवारी है जो उन सबको उठानी पड़ेगी जो मानव कल्याण के इच्छुक हैं। ऐसे लोग सभी राष्ट्रों एवं सभी वातावरणों में विद्यमान हैं। आज के मानव को उन सब संभावनाओं एवं चुनौतियों पर विचार करना चाहिये जो उसके सामने हैं। साथ ही उन खतरों पर भी ध्यान देना चाहिये जो आज की परिस्थिति में निहित हैं भविष्य हमारे हाथ में है। यह हम पर ही निर्भर करता है कि वह चेतना जो मनुष्य के माध्यम से प्राणी जगत ने शायद विश्व में पाई है, कहीं अनन्त रात्रि में क्षण भर के लिये चमकने वाले आलोक के समान सिद्ध न हो। हम इस आलोक को सुरक्षित रख सकते हैं एवं उस मानवीयता को प्राप्त कर सकते हैं, जो प्रत्येक काल के संतों द्वारा अनुभूत हुई है तथा जिसे बुद्ध से ईसा तक और अब्राहम से मुहम्मद तक मनुष्य ने अपनी प्रार्थनाओं में पुकारा है।

संदर्भ एवं टिप्पणियां :

1. अतिरिक्त जानकारी के लिये "**ले तैम्पस दे साइंस**, फरवरी 1982 में प्रकाशित जेरूफी के लेख : ले त्रयते द्यू विवां, देखें।

2. डार्विन और मार्क्स के सम्बन्धों की विशेष जानकारी के लिये (विशेषकर उनके पत्राचारों जिनकी प्रमाणिकता पर कुछ लोग संदेह करते हैं) देखें : **बर्नार्ड नकाशें, मार्क्स क्रिटिक दे डार्विन,** पेरिस व्रिन 1980